पढ़ें और बढ़ें श्रृंखला

रिश्तों की खिड़कियाँ

भाग- 4

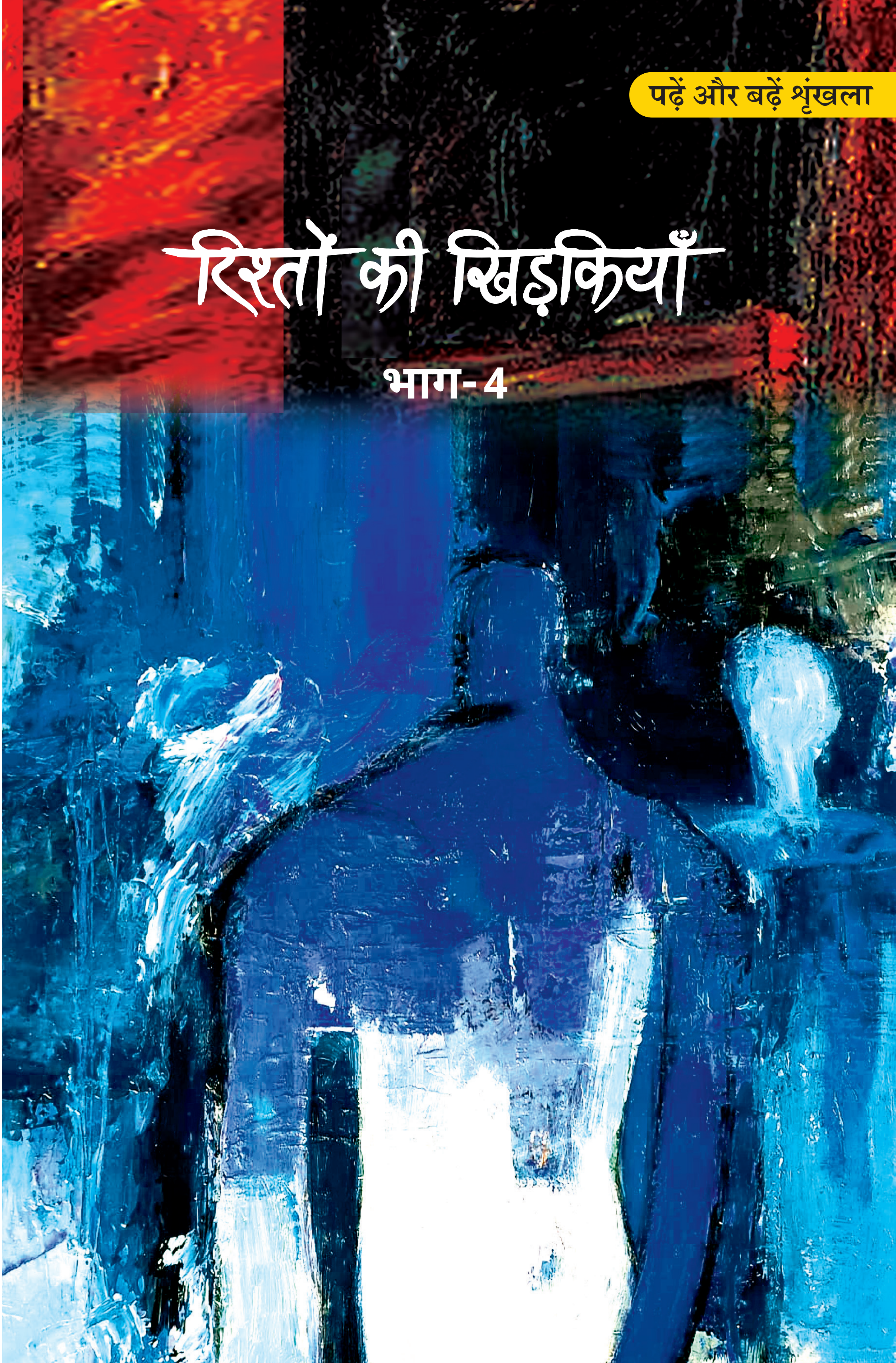

स्वच्छ भारत

एक कदम स्वच्छता की ओर

पढ़ें और बढ़ें शृंखला

रिश्तों की खिड़कियाँ

भाग- 4

विद्यया ऽमृतमश्नुते

एन सी ई आर टी
NCERT

राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्
NATIONAL COUNCIL OF EDUCATIONAL RESEARCH AND TRAINING

21193 – रिश्तों की खिड़कियाँ, भाग- 4

ISBN 978-93-5292-641-1

प्रथम संस्करण

जून 2024 ज्येष्ठ 1946

PD 3T SU

© राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्, 2024

सर्वाधिकार सुरक्षित

- प्रकाशक की पूर्व अनुमति के बिना इस प्रकाशन के किसी भाग को छापना तथा इलैक्ट्रॉनिकी, मशीनी, फ़ोटोप्रतिलिपि, रिकॉर्डिंग अथवा किसी अन्य विधि से पुन: प्रयोग पद्धति द्वारा उसका संग्रहण अथवा प्रचारण वर्जित है।
- इस पुस्तक की बिक्री इस शर्त के साथ की गई है कि प्रकाशन की पूर्व अनुमति के बिना यह पुस्तक अपने मूल आवरण अथवा जिल्द के अलावा किसी अन्य प्रकार से व्यापार द्वारा उधारी पर, पुनर्विक्रय या किराए पर न दी जाएगी, न बेची जाएगी।
- इस प्रकाशन का सही मूल्य इस पृष्ठ पर मुद्रित है। रबड़ की मुहर अथवा चिपकाई गई पर्ची (स्टिकर) या किसी अन्य विधि द्वारा अंकित कोई भी संशोधित मूल्य गलत है तथा मान्य नहीं होगा।

एन. सी. ई. आर. टी. के प्रकाशन प्रभाग के कार्यालय

एन.सी.ई.आर.टी. कैंपस
श्री अरविंद मार्ग
नयी दिल्ली 110 016 फ़ोन : 011-26562708

108, 100 फीट रोड
हेली एक्सटेंशन, होस्डेकेरे
बनाशंकरी III इस्टेज
बेंगलुरु 560 085 फ़ोन : 080-26725740

नवजीवन ट्रस्ट भवन
डाकघर नवजीवन
अहमदाबाद 380 014 फ़ोन : 079-27541446

सी.डब्ल्यू.सी. कैंपस
निकट धनकल बस स्टॉप पिनहटी
कोलकाता 700 114 फ़ोन : 033-25530454

सी.डब्ल्यू.सी. कॉम्प्लैक्स
मालीगाँव
गुवाहाटी 781021 फ़ोन : 0361-2676869

₹ 160.00

प्रकाशन सहयोग

अध्यक्ष, प्रकाशन प्रभाग	:	*अनूप कुमार राजपूत*
मुख्य संपादक	:	*श्वेता उप्पल*
मुख्य उत्पादन अधिकारी	:	*अरुण चितकारा*
मुख्य व्यापार प्रबंधक	:	*अमिताभ कुमार*
सहायक उत्पादन अधिकारी	:	*ओम प्रकाश*

आवरण एवं चित्रांकन
जोएल गिल

एन.सी.ई.आर.टी. वॉटरमार्क 80 जी.एस.एम. पेपर पर मुद्रित।

सचिव, राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्, श्री अरविंद मार्ग, नयी दिल्ली 110 016 द्वारा प्रकाशन प्रभाग में प्रकाशित तथा हाई-टेक ग्राफ़िक्स, एफ-28/3, ओखला इंडस्ट्रियल एरिया, फ़ेस-II, नयी दिल्ली 110 020 द्वारा मुद्रित।

आमुख

राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद समय-समय पर विद्यार्थियों के लिए पाठ्यपुस्तकों के साथ-साथ अतिरिक्त पाठ्यसामग्री का प्रकाशन करती है। विद्यार्थियों के पास कुछ ऐसे विकल्प भी उपलब्ध होने चाहिए जो पाठ्यपुस्तकों के अतिरिक्त हों। राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 में पठनसामग्री की उपलब्धता पर विशेष बल दिया गया है। इसे ध्यान में रखकर विद्यार्थियों के लिए 'पढ़ें और बढ़ें' शृंखला की योजना बनायी गई। इस योजना के तहत माध्यमिक स्तर के हिंदी विद्यार्थियों के लिए 'रिश्तों की खिड़कियाँ, भाग- 4' नामक पुस्तक को तैयार किया गया है। इस पुस्तक में माँ और पिता से इतर अन्य रिश्तों पर केंद्रित कहानियों का संचयन किया गया है। आशा है, यह पुस्तक विद्यार्थियों में पढ़ने की संस्कृति विकसित करेगी तथा अध्यापकों सहित अन्य पाठकों को आकृष्ट करेगी।

पुस्तक की सामग्री-चयन और समीक्षा के लिए आयोजित कार्यशालाओं में उपस्थित होकर जिन विषय विशेषज्ञों तथा अनुभवी अध्यापकों ने अपने बहुमूल्य सुझावों द्वारा पुस्तक को उपयोगी बनाने में सहयोग किया है, परिषद उनके प्रति आभार व्यक्त करती है। यह पुस्तक परिषद के भाषा शिक्षा विभाग के हिंदी संकाय सदस्यों द्वारा किया गया एक सराहनीय प्रयास है।

निश्चय ही, पाठ्यक्रम तथा पाठ्यपुस्तकों का विकास एक निरंतर चलने वाली प्रक्रिया है। अत: पुस्तक को और उपयोगी बनाने के लिए विद्यार्थियों, अध्यापकों और विशेषज्ञों के सुझावों का स्वागत है।

दिनेश प्रसाद सकलानी
निदेशक
राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद

नई दिल्ली
नवंबर 2023

यह पुस्तक...

सभ्यता के आरंभ में मनुष्य ने सबसे पहला रिश्ता प्रकृति से कायम किया और धीरे-धीरे संपूर्ण सृष्टि के साथ अपने रिश्तों का निर्वाह करते हुए मानवीय रिश्तों का सृजन किया। ये रिश्ते समय के प्रवाह में धीरे-धीरे ही विकसित हुए हैं। समाज में रिश्तों की पहचान भिन्न-भिन्न नामों से होती रही है। आज ऐसे मानव समाज की कल्पना नहीं की जा सकती जिसमें रिश्ते न हों। मनुष्य-मनुष्य के बीच अपनी भावनात्मक ज़रूरतों और परिस्थिति के अनुसार निर्मित इन रिश्तों की संवेदनाएँ बदलती रही हैं। हमारा सामाजिक जीवन वस्तुत: इन रिश्तों पर ही निर्भर है और उसे आज भी अर्थपूर्ण बनाए हुए है।

'पढ़ें और बढ़ें' शृंखला के अंतर्गत 'रिश्तों की खिड़कियाँ' (चार भागों में) पुस्तकों का निर्माण किया गया है। शृंखला के इस भाग (भाग- 4) में माँ और पिता से इतर अन्य रिश्तों पर केंद्रित रचनाएँ संग्रहित की गई हैं। वहीं भाग-1 में माँ केंद्रित रचनाएँ, भाग-2 में पिता केंद्रित रचनाएँ और भाग-3 में पशु-पक्षियों पर केंद्रित रचनाएँ संकलित की गई हैं। इसका उद्‌देश्य किशोर वय के पाठकों को रिश्तों की अहमियत और उनकी बदलती संवेदना से परिचित कराना ही नहीं, बल्कि यह बताना भी है कि रिश्ते कभी जड़ या ठोस नहीं होते; वे असीम भावनाओं से भरे होते हैं और इनमें विभिन्न सामाजिक परिवेश और परिस्थितियों के अनुकूल जीवन-व्यवहार को समझने की गहरी अंतर्दृष्टि होती है।

इस पुस्तक में शामिल कहानियाँ बीसवीं और इक्कीसवीं शताब्दी की हैं। इन कहानियों में आये विभिन्न रिश्तों और चरित्रों के स्वभाव-व्यवहार में समय के बदलते रुख को देखा जा सकता है। इस पुस्तक का निर्माण एक शृंखला के रूप में किया गया है जिसमें रिश्तों के अलग-अलग रूप प्रस्तुत हुए हैं। इस शृंखला की पहली कड़ी में ऐसे रिश्तों की कहानियाँ शामिल हैं जिन्हें समाज में सामान्यत: भाई-बहन, मित्र, पति-पत्नी, प्रेमी-प्रेमिका, चाची-भतीजी, माँ-बेटी, पिता-पुत्र, दादा-दादी आदि के रूप में पहचाना जाता है।

समाज में हर रिश्ते की एक गरिमा होती है। साहित्यिक रचनाओं में मानवीय रिश्ते किन्हीं आदर्श मूल्यों से नहीं बल्कि समय, परिवेश, परिस्थिति और चरित्रों की विशिष्ट मानसिक स्थिति से निर्मिति होते हैं। इस शृंखला की रचनाओं में जिन रिश्तों को आधार बनाया गया है, उनमें इन बातों को रेखांकित किया जा सकता है। मन्नू भंडारी की कहानी 'अकेली' पति-पत्नी के रिश्ते पर केंद्रित है। 'अकेली' की सोमा बुआ पति होने के बावजूद एक परित्यक्ता का-सा जीवन जीते हुए अपने को एकदम अकेला महसूस करती हैं। लेकिन शिवप्रसाद सिंह की 'दादी माँ' कहानी में परिवार और पास-पड़ोस के लोगों के लिए जी-जान से मदद करती दादी बिना मलाल के अपने पति की आखिरी निशानी कंगन भी परिवार की मदद के लिए दे देती है। प्रियदर्शन की 'चलते-चलते' कहानी एक ऐसे युवक और युवती के आकर्षण की कहानी है जो अंत तक सामाजिक परिस्थितियों के कारण यह निश्चित नहीं कर पाते कि हम एक होकर कैसे जियें? इसी

तरह रेणु की 'तीसरी कसम अर्थात मारे गए गुलफ़ाम' कहानी भी प्रेम संवेदना की मार्मिक कहानी है। इसमें हिरामन और उसकी बैलगाड़ी में बैठी नौटंकी में काम करने वाली हीराबाई के बीच सफ़र के दौरान एक आत्मीय रिश्ता कायम तो होता है, लेकिन कथा के अंत में वह टूट जाता है।

कमलेश्वर की 'नीली झील' प्रेम संवेदना की कहानी है। इसमें पत्नी के निधन के बाद कथानायक के जीवन में आये भावनात्मक बदलाव को अभिव्यक्त किया गया है। मधु कांकरिया की कहानी 'चिड़िया ऐसे मरती है' स्त्री-पुरुष के प्रेम संबंध की कथा है। नायक द्वारा उचित निर्णय न ले पाने की स्थिति में यह प्रेम संबंध अधूरा रह जाता है। अमृतलाल नागर की कहानी 'दो आस्थाएँ' दो पीढ़ियों के बीच द्वंद्व को उद्‌घाटित करती है। इसमें पिता-पुत्र के आत्मीय रिश्तों के टूटकर बिखर जाने की कथा है। कृष्णा सोबती की 'दादी अम्मा' एक ऐसी बूढ़ी दादी की कहानी है जो भरे-पूरे परिवार में रहते हुए भी अपने को उपेक्षित महसूस करती है।

प्रेमचंद की 'गुल्ली डंडा' बचपन की मित्रता की कहानी है जिसमें बचपन की स्मृतियाँ तो युवा होने के बाद बची रह जाती हैं, लेकिन बचपन की वह निश्छलता, प्रेम और मस्ती नहीं रह जाती। जैनेन्द्र कुमार की 'आतिथ्य' कहानी भी मैत्री संबंध की कहानी है। इसमें विदेश से लौटे अमीर मित्र के अपने अध्यापक मित्र के प्रति संबंधों में आये बदलाव को दिखाया गया है। यहाँ मैत्री संबंध आत्मीयता की जगह व्यावसायिकता में बदल गया है। मोहन राकेश की 'रोज़गार' कहानी भाई-बहन के ऐसे रिश्ते की कहानी है जिसमें बहन भाई के प्रति अपनी जिम्मेदारी निभाते हुए उसकी देखभाल करती है, लेकिन भाई में उसके प्रति कोई आत्मीयता नहीं है।

संजय खाती की कहानी 'बुखार' एक ऐसी लड़की की कहानी है जो पिता की मृत्यु के बाद शहर में चाचा के घर आकर रहने तो लगती है, लेकिन चाची का व्यवहार और उस घर का वातावरण वह अपने अनुकूल नहीं पाती और एक बार माँ के पास लौट आने के बाद वह वापस न जाने के बहाने ढूँढ़ती है।

इस तरह 'रिश्तों की खिड़कियाँ' की पहली कड़ी में शामिल कहानियाँ विविध मानवीय रिश्तों की ऐसी कहानियाँ हैं जिनमें भिन्न-भिन्न संवेदनाओं, भावनाओं और अनुभूतियों की मार्मिक अभिव्यक्ति हुई है।

उम्मीद है कि हमारे पाठक इन रचनाओं को पढ़कर इनका मर्म समझेंगे तथा भारतीय समाज में रिश्तों की गहराई और व्यापकता का उचित आशय ग्रहण कर सकेंगे।

पुस्तक में रचनाओं को रचनाकारों की वरिष्ठता के क्रम में रखने की कोशिश की गई है।

आपके सुझावों का स्वागत है।

संध्या सिंह

प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष

भाषा शिक्षा विभाग, रा.शै.अ.प्र.प., नई दिल्ली

पुस्तक निर्माण समिति

सदस्य

पल्लव, *असिस्टेंट प्रोफ़ेसर*, हिंदू कॉलेज, दिल्ली

प्रमोद कुमार तिवारी, *असिस्टेंट प्रोफ़ेसर*, गुजरात केंद्रीय विश्वविद्यालय, गाँधीनगर, गुजरात

प्रेम कुमार तिवारी, *एसोसिएट प्रोफ़ेसर*, दयाल सिंह कॉलेज, नई दिल्ली

श्याम सिंह सुशील, *हिंदी लेखक*, ए-13 दैनिक जनयुग अपार्टमेंट्स, वसुंधरा एनक्लेव, दिल्ली

समन्वयक

संध्या सिंह, *प्रोफ़ेसर* एवं *अध्यक्ष*, भाषा शिक्षा विभाग, रा.शै.अ.प्र.प., नई दिल्ली

आभार

राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद रचनाकारों, उनके परिजनों, संस्थानों/प्रकाशकों के प्रति आभारी है जिन्होंने अपनी रचनाओं को प्रकाशित करने की अनुमति प्रदान की।

पुस्तक निर्माण संबंधी कार्यों में तकनीकी सहयोग एवं अन्य प्रकार के सहयोग के लिए परिषद हिरण्य हिमकर, *सहायक प्रोफेसर,* रामानुजन कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, नई दिल्ली; चंदन कुमार, आशीष कुमार, पारमिता राहा, बजरंग बली कहाँर एवं सुशील द्विवेदी *जे.पी.एफ.*, भाषा शिक्षा विभाग; अमजद हुसैन, *ग्राफिक डिजाइनर* और रेखा, *डी.टी.पी.ऑपरेटर* भाषा शिक्षा विभाग, रा.शै.अ.प्र.प. के प्रति आभारी है।

परिषद इस पुस्तक को अंतिम रूप देने के लिए प्रकाशन प्रभाग की आभारी है। भाषा संपादन हेतु अतुल कुमार मिश्र, *संपादक,* (संविदा) एवं लेआउट के लिए अजय कुमार प्रजापति और सगीर अहमद, *डी.टी.पी. ऑपरेटर* (संविदा) और सुरेंद्र कुमार, *प्रभारी*, डी.टी.पी. प्रकोष्ठ, रा.शै.अ.प्र.प. के प्रति भी परिषद आभार व्यक्त करती है।

विषय-सूची

	आमुख		*iii*
	यह पुस्तक...		*v*
1.	गुल्ली-डंडा	प्रेमचंद	1
2.	आतिथ्य	जैनेन्द्र कुमार	11
3.	दो आस्थाएँ	अमृतलाल नागर	21
4.	तीसरी कसम अर्थात मारे गए गुलफ़ाम	फणीश्वर नाथ 'रेणु'	43
5.	रोज़गार	मोहन राकेश	77
6.	दादी अम्मा	कृष्णा सोबती	92
7.	दादी माँ	शिव प्रसाद सिंह	109
8.	अकेली	मन्नू भंडारी	116
9.	नीली झील	कमलेश्वर	125
10.	चिड़िया ऐसे मरती है	मधु कांकरिया	146
11.	बुखार	संजय खाती	161
12.	चलते-चलते	प्रियदर्शन	172
	लेखकों के बारे में		182

MANODARPAN
Empowering Minds, Enriching Lives
An Initiative of the Ministry of Education

अगर आप ...

पढ़ाई एवं परीक्षा

निजी संबंधों

करियर

साथियों के दबाव

को लेकर किसी भी तरह के तनाव, चिंता, परेशानी, उदासी या उलझन में हैं, तो काउंसलर की मदद लें

कॉल करें
8448440632

राष्ट्रीय टोल-फ्री काउंसलिंग
टेली-हेल्पलाइन
सुबह 8 बजे से रात 8 बजे तक
सप्ताह के प्रत्येक दिन

मनोदर्पण

कोविड-19 के प्रकोप के दौरान और उसके बाद विद्यार्थियों के मानसिक स्वास्थ्य
एवं कल्याण हेतु मनो-सामाजिक सहायता
(आत्मनिर्भर भारत अभियान के तहत शिक्षा मंत्रालय, भारत सरकार की एक पहल)

www.https://manodarpan.education.gov.in

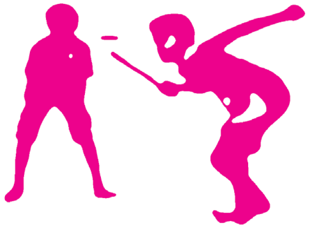

गुल्ली-डंडा

प्रेमचंद

प्रेमचंद की प्रसिद्ध कहानी 'गुल्ली-डंडा' बचपन के निश्छल प्रेम और मस्ती की याद दिलाने वाली कहानी है, जहाँ ऊँच-नीच, छोटे-बड़े का कोई भेद नहीं होता। 'गुल्ली-डंडा' खेल के बहाने जब बीस साल बाद दो मित्र दुबारा मिलते हैं तो बचपन की-सी निश्छलता गायब है। अब एक मित्र अफ़सर है तो दूसरा मामूली चपरासी। प्रेमचंद कहानी में संबंधों में आ रहे बदलावों को खेल के माध्यम से लक्षित करते हैं। दोनों मित्रों में अपने-अपने वर्गों के गुणों को देखा जा सकता है।

हमारे अंग्रेज़ीदाँ दोस्त मानें या न मानें, मैं तो यही कहूँगा कि गुल्ली-डंडा सब खेलों का राजा है। अब भी कभी लड़कों को गुल्ली-डंडा खेलते देखता हूँ, तो जी लोट-पोट हो जाता है कि इनके साथ जाकर खेलने लगूँ। न लॉन की ज़रूरत, न कोर्ट की, न नेट की, न थापी की। मज़े से किसी पेड़ की एक टहनी काट ली, गुल्ली बना ली, और दो आदमी भी आ गए, तो खेल शुरू हो गया। विलायती खेलों में सबसे बड़ा ऐब है कि उनके सामान महँगे होते हैं। जब तक कम-से-कम एक सैकड़ा न खर्च कीजिए, खिलाड़ियों में शुमार ही नहीं हो सकता। यह गुल्ली-डंडा है कि बिना हर्र-फिटकरी के चोखा रंग देता है, पर हम अंग्रेज़ी चीज़ों के पीछे ऐसे दीवाने हो रहे हैं कि अपनी सभी चीज़ों से अरुचि हो गई है। हमारे स्कूलों में हरेक लड़के से तीन-चार रुपये सालाना केवल खेलने की फीस ली जाती है।

किसी को यह नहीं सूझता कि भारतीय खेल खिलाएँ, जो बिना दाम-कौड़ी के खेले जाते हैं। अंग्रेज़ी खेल उनके लिए हैं, जिनके पास धन है। गरीब लड़कों के सिर क्यों यह व्यसन मढ़ते हो। ठीक है, गुल्ली से आँख फूट जाने का भय रहता है। तो क्या क्रिकेट से सिर फूट जाने, तिल्ली फट जाने, टाँग टूट जाने का भय नहीं रहता? अगर हमारे माथे में गुल्ली का दाग आज तक बना हुआ है, तो हमारे कई दोस्त ऐसे भी हैं, जो थापी को बैसाखी से बदल बैठे। खैर, यह अपनी-अपनी रुचि है। मुझे गुल्ली ही सब खेलों से अच्छी लगती है और बचपन की मीठी स्मृतियों में गुल्ली ही सबसे मीठी है। वह प्रात:काल घर से निकल जाना, वह पेड़ पर चढ़कर टहनियाँ काटना और गुल्ली-डंडे बनाना, वह उत्साह, वह लगन, वह खिलाड़ियों के जमघटे, वह पदना और पदाना, वह लड़ाई-झगड़े, वह सरल स्वभाव, जिससे छूत-अछूत, अमीर-गरीब का बिलकुल भेद न रहता था, जिसमें अमीराना चोचलों की, प्रदर्शन की, अभिमान की गुंजाइश ही न थी, यह उसी वक्त भूलेगा जब...। घरवाले बिगड़ रहे हैं, पिताजी चौके पर बैठे वेग से रोटियों पर अपना क्रोध उतार रहे हैं, अम्मा की दौड़ केवल द्वार तक है लेकिन उनकी विचारधारा में मेरा अंधकारमय भविष्य टूटी हुई नौका की तरह डगमगा रहा है, और मैं हूँ कि पदाने में मस्त हूँ, न नहाने की सुधि है, न खाने की। गुल्ली है तो ज़रा-सी, पर उसमें दुनिया भर की मिठाइयों की मिठास और तमाशों का आनंद भरा हुआ है।

मेरे हमजोलियों में एक लड़का गया नाम का था। मुझसे दो-तीन साल बड़ा होगा। दुबला, लंबा, बंदरों की-सी लंबी-लंबी, पतली-पतली उँगलियाँ, बंदरों की-सी ही चपलता, वही झल्लाहट। गुल्ली कैसी हो, उस पर इस तरह लपकता था, जैसे छिपकली कीड़ों पर लपकती है। मालूम नहीं उसके माँ-बाप थे या नहीं, कहाँ रहता था, क्या खाता था, पर था हमारे गुल्ली-क्लब का चैम्पियन। जिसकी तरफ वह आ जाए,

उसकी जीत निश्चित थी! हम सब उसे दूर से आते देख, उसका दौड़कर स्वागत करते थे और उसे अपना गोइयाँ बना लेते थे।

एक दिन हम और गया दो ही खेल रहे थे। वह पदा रहा था, मैं पद रहा था, मगर कुछ विचित्र बात है कि पदाने में हम दिन भर मस्त रह सकते हैं, पदना एक मिनट का भी अखरता है। मैंने गला छुड़ाने के लिए सब चालें चलीं, जो ऐसे अवसर पर शास्त्र-विहित न होने पर भी क्षम्य हैं, लेकिन गया अपना दाँव लिए बगैर मेरा पिंड न छोड़ता था।

अनुनय-विनय का कोई असर न हुआ। मैं घर की ओर भागा।

गया ने मुझे दौड़कर पकड़ लिया और डंडा तानकर बोला, "मेरा दाँव देकर जाओ। पदाया तो बड़े बहादुर बन के, पदने की बेर क्यों भागे जाते हो?"

"तुम दिन भर पदाओ तो मैं दिन भर पदता रहूँ।"

"हाँ, तुम्हें दिन भर पदना पड़ेगा।"

"न खाने जाऊँ, न पीने जाऊँ?"

"हाँ, मेरा दाँव दिये बिना कहीं नहीं जा सकते।"

"मैं तुम्हारा गुलाम हूँ?"

"हाँ, मेरे गुलाम हो।"

"मैं घर जाता हूँ, देखूँ मेरा क्या कर लेते हो?"

"घर कैसे जाओगे, कोई दिल्लगी है। दाँव दिया है, दाँव लेंगे।"

"अच्छा, कल मैंने तुम्हें अमरूद खिलाया था। वह लौटा दो।"

"वह तो पेट में चला गया।"

"निकालो पेट से। तुमने क्यों खाया मेरा अमरूद?"

"अमरूद तुमने दिया, तब मैंने खाया। तुमसे माँगने न गया था।"

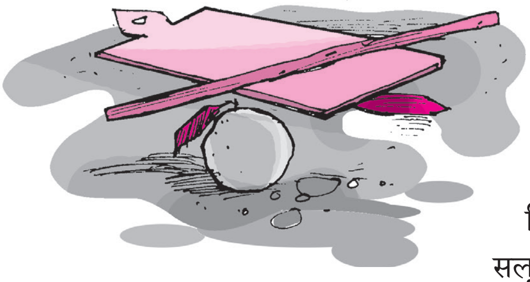

"जब तक मेरा अमरूद न दोगे, मैं दाँव न दूँगा।"

मैं समझता था, न्याय मेरी ओर है। आखिर मैंने किसी स्वार्थ से ही उसे अमरूद खिलाया होगा। कौन नि:स्वार्थ किसी के साथ सलूक करता है। भिक्षा तक तो स्वार्थ के लिए ही देते हैं। जब गया ने अमरूद खाया, तो फिर उसे मुझसे दाँव लेने का क्या अधिकार है? रिश्वत देकर तो लोग खून पचा जाते हैं। यह मेरा अमरूद यों ही हजम कर जाएगा? अमरूद पैसे के पाँच वाले थे, जो गया के बाप को भी नसीब न होंगे। यह सरासर अन्याय था।

गया ने मुझे अपनी ओर खींचते हुए कहा, "मेरा दाँव देकर जाओ, अमरूद-समरूद मैं नहीं जानता।"

मुझे न्याय का बल था। वह अन्याय पर डटा हुआ था। मैं हाथ छुड़ाकर भागना चाहता था। वह मुझे जाने न देता था! मैंने गाली दी, उसने उससे कड़ी गाली दी, और गाली नहीं, दो-एक चाँटा जमा दिया। मैंने उसे दाँत काट लिया। उसने मेरी पीठ पर डंडा जमा दिया। मैं रोने लगा। गया मेरे इस अस्त्र का मुकाबला न कर सका। भागा। मैंने तुरंत आँसू पोंछ डाले, डंडे की चोट भूल गया और हँसता हुआ घर जा पहुँचा! मैं थानेदार का लड़का एक नीच जात के लौंडे के हाथों पिट गया, यह मुझे उस समय भी अपमानजनक मालूम हआ, लेकिन घर में किसी से शिकायत न की।

2

उन्हीं दिनों पिताजी का वहाँ से तबादला हो गया। नयी दुनिया देखने की खुशी में ऐसा फूला कि अपने हमजोलियों से बिछुड़ जाने का बिलकुल दु:ख न हुआ। पिताजी दु:खी थे। यह बड़ी आमदनी की जगह थी। अम्मा जी भी दु:खी थीं, यहाँ सब चीज़ें सस्ती थीं, और मोहल्ले की स्त्रियों से घराव-सा हो गया था लेकिन मैं मारे खुशी के फूला न समाता था। लड़कों में जीट उड़ा रहा था, वहाँ ऐसे घर थोड़े ही होते हैं। ऐसे-ऐसे ऊँचे घर हैं कि आसमान से बातें करते हैं। वहाँ के अंग्रेज़ी स्कूल में कोई मास्टर लड़कों को पीटे, तो उसे जेल हो जाए। मेरे मित्रों की फैली हुई आँखें और चकित मुद्रा बतला रही थी कि मैं उनकी निगाह में कितना ऊँचा उठ गया हूँ। बच्चों में मिथ्या को सत्य बना लेने की वह शक्ति है, जिसे हम, जो सत्य को मिथ्या बना लेते हैं, क्या समझेंगे। उन बेचारों को मुझसे कितनी

स्पर्द्धा हो रही थी। मानो कह रहे थे— तुम भाग्यवान हो भाई, जाओ हमें तो इसी ऊजड़ ग्राम में जीना भी है और मरना भी।

बीस साल गुजर गए। मैंने इंजीनियरी पास की और उसी ज़िले का दौरा करता हुआ, उसी कस्बे में पहुँचा और डाक बँगले में ठहरा। उस स्थान को देखते ही इतनी मधुर बाल-स्मृतियाँ हृदय में जाग उठीं कि मैंने छड़ी उठायी और कस्बे की सैर करने निकला। आँखें किसी प्यासे पथिक की भाँति बचपन के उन क्रीड़ा-स्थलों को देखने के लिए व्याकुल हो रही थीं, पर उस परिचित नाम के सिवा वहाँ और कुछ परिचित न था। जहाँ खंडहर था, वहाँ पक्के मकान खड़े थे। जहाँ बरगद का पुराना पेड़ था, वहाँ अब एक सुंदर बगीचा था। स्थान की कायापलट हो गई थी। अगर उसके नाम और स्थिति का ज्ञान न होता, तो मैं इसे पहचान भी न सकता। बचपन की संचित स्मृतियाँ बाँहें खोले अपने उन पुराने मित्रों से गले मिलने को अधीर हो रही थीं, मगर वह दुनिया बदल गई थी। ऐसा जी होता था कि उस धरती से लिपटकर रोऊँ और कहूँ, तुम मुझे भूल गई। मैं तो अब भी तुम्हारा वही रूप देखना चाहता हूँ।

सहसा एक खुली हुई जगह में मैंने दो-तीन लड़कों को गुल्ली-डंडा खेलते देखा। एक क्षण के लिए मैं अपने को बिलकुल भूल गया। भूल गया कि मैं एक ऊँचा अफ़सर हूँ, साहबी ठाट में, रोब और अधिकार के आवरण में।

जाकर एक लड़के से पूछा, "क्यों बेटे, यहाँ कोई गया नाम का आदमी रहता है?"

एक लड़के ने गुल्ली-डंडा समेटकर सहमे हुए स्वर में कहा, "कौन गया? गया चमार?"

मैंने यों ही कहा, "हाँ-हाँ वही। गया नाम का कोई आदमी है तो। शायद वही हो।"

"ज़रा उसे बुलाकर ला सकते हो?"

लड़का दौड़ा हुआ गया और एक क्षण में एक पाँच हाथ के काले देव को साथ लिए आता दिखायी दिया। मैं दूर ही से पहचान गया। उसकी ओर लपकना चाहता था कि उसके गले लिपट जाऊँ, पर कुछ सोचकर रह गया। बोला, "कहो गया, मुझे पहचानते हो?"

गया ने झुककर सलाम किया, "हाँ मालिक, भला पहचानूँगा क्यों नहीं? आप मज़े में रहे?"

"बहुत मज़े में। तुम अपनी कहो?"

"डिप्टी साहब का साईस हूँ।"

"मतई, मोहन, दुर्गा यह सब कहाँ हैं? कुछ खबर है?"

"मतई तो मर गया, दुर्गा और मोहन दोनों डाकिये हो गए हैं, आप?"

"मैं तो ज़िले का इंजीनियर हूँ?"

"सरकार तो पहले ही बड़े जहीन थे।"

"अब कभी गुल्ली-डंडा खेलते हो?"

गया ने मेरी ओर प्रश्न की आँखों से देखा, "अब गुल्ली-डंडा क्या खेलूँगा सरकार, अब तो पेट के धंधे से छुट्‌टी नहीं मिलती।"

"आओ, आज हम तुम खेलें। तुम पदाना, हम पदेंगे। तुम्हारा एक दाँव हमारे ऊपर है। वह आज ले लो।"

गया बड़ी मुश्किल से राजी हुआ। वह ठहरा टके का मज़दूर, मैं एक बड़ा अफ़सर। हमारा और उसका क्या जोड़? बेचारा झेंप रहा था लेकिन मुझे भी कुछ कम झेंप न थी, इसलिए नहीं कि मैं गया के साथ खेलने जा रहा था बल्कि इसलिए कि लोग इस खेल को अजूबा समझकर इसका तमाशा बना लेंगे और अच्छी-खासी भीड़ लग जाएगी। उस भीड़ में वह आनंद कहाँ रहेगा, पर खेले बगैर तो रहा नहीं जाता था। आखिर निश्चय हुआ कि दोनों जने बस्ती से दूर जाकर एकांत में खेलें। वहाँ कौन कोई देखनेवाला बैठा होगा। मज़े से खेलेंगे और बचपन की उस मिठाई को खूब रस ले-लेकर खायेंगे। मैं गया

को लेकर डाक बँगले पर आया और मोटर में बैठकर दोनों मैदान की ओर चले। साथ में एक कुल्हाड़ी ले ली। मैं गंभीर भाव धारण किये हुए था लेकिन गया इसे अभी तक मजाक ही समझ रहा था। फिर भी उसके मुख पर उत्सुकता या आनंद का कोई चिह्न न था। शायद वह हम दोनों में जो अंतर हो गया था, वह सोचने में मगन था।

मैंने पूछा, "तुम्हें कभी हमारी याद आयी थी गया? सच कहना।"

गया झेंपता हुआ बोला, "मैं आपको क्या याद करता हुजूर, किस लायक हूँ। भाग में आपके साथ कुछ दिन खेलना बदा था, नहीं मेरी क्या गिनती।"

मैंने कुछ उदास होकर कहा, "लेकिन मुझे तो बराबर तुम्हारी याद आती थी। तुम्हारा वह डंडा, जो तुमने तानकर जमाया था, याद है न?"

गया ने पछताते हुए कहा, "वह लड़कपन था सरकार, उसकी याद न दिलाओ।"

"वाह! वह मेरे बाल-जीवन की सबसे रसीली याद है। तुम्हारे उस डंडे में जो रस था, वह तो अब न आदर-सम्मान में पाता हूँ, न धन में। कुछ ऐसी मिठास थी उसमें कि आज तक उससे मन मीठा होता रहता है।"

इतनी देर में हम बस्ती से कोई तीस मील निकल आये हैं। चारों तरफ सन्नाटा है। पश्चिम की ओर कोसों तक भीमताल फैला हुआ है, जहाँ आकर हम किसी समय कमल के पुष्प तोड़ ले जाते थे और उसके झुमके बनाकर कानों में डाल लेते थे। जेठ की संध्या केसर में डूबी चली आ रही है। मैं लपककर एक पेड़ पर चढ़ गया और एक टहनी काट लाया। चटपट गुल्ली-डंडा बन गया।

खेल शुरू हो गया। मैंने गुच्ची में गुल्ली रखकर उछाली। गुल्ली गया के सामने से निकल गई। उसने हाथ लपकाया जैसे मछली पकड़ रहा हो। गुल्ली उसके पीछे जाकर गिरी। यह वही गया है, जिसके हाथों में गुल्ली जैसे आप-ही-आप जाकर बैठ जाती थी। वह दाहिने-बाएँ कहीं हो, गुल्ली उसकी हथेलियों में ही पहुँचती थी। जैसे गुल्लियों पर वशीकरण डाल देता हो। नयी गुल्ली, पुरानी गुल्ली, छोटी गुल्ली, बड़ी गुल्ली, नोकदार गुल्ली, सपाट गुल्ली सभी उसे मिल जाती थीं। जैसे उसके हाथों में कोई चुंबक हो, जो गुल्लियों को खींच लेता हो लेकिन आज गुल्ली को उससे प्रेम नहीं रहा। फिर तो मैंने पदाना शुरू किया। मैं तरह-तरह की धाँधलियाँ कर रहा था। अभ्यास की कसर बेईमानी से पूरी कर रहा था। हुच जाने पर भी डंडा खेले जाता था, हालाँकि शास्त्र के अनुसार गया की बारी आनी चाहिए थी। गुल्ली पर जब ओछी चोट पड़ती और वह ज़रा दूर पर गिर पड़ती, तो मैं झटपट उसे खुद उठा लेता और दोबारा टाँड लगाता। गया यह सारी बे-कायदगियाँ

देख रहा था, पर कुछ न बोलता था, जैसे उसे वह सब कायदे-कानून भूल गए। उसका निशाना कितना अचूक था। गुल्ली उसके हाथ से निकलकर टन-से डंडे में आकर लगती थी। उसके हाथ से छूटकर उसका काम था डंडे से टकरा जाना, लेकिन आज वह गुल्ली डंडे में लगती ही नहीं। कभी दाहिने जाती है, कभी बायें, कभी आगे, कभी पीछे।

आधे घंटे पदाने के बाद एक बार गुल्ली डंडे में आ लगी। मैंने धाँधली की, गुल्ली डंडे में नहीं लगी, बिलकुल पास से गई लेकिन लगी नहीं।

गया ने किसी प्रकार का असंतोष न प्रकट किया।

"न लगी होगी।"

"डंडे में लगती तो क्या मैं बेईमानी करता?"

"नहीं भैया, तुम भला बेईमानी करोगे।"

बचपन में मजाल था कि मैं ऐसा घपला करके जीता बचता। यही गया गरदन पर चढ़ बैठता, लेकिन आज मैं उसे कितनी आसानी से धोखा दिए चला जाता था। गधा है! सारी बातें भूल गया।

सहसा गुल्ली फिर डंडे में लगी और इतने ज़ोर से लगी जैसे बंदूक छूटी हो। इस प्रमाण के सामने अब किसी तरह की धाँधली करने का साहस मुझे इस वक्त भी न हो सका, लेकिन क्यों न एक बार सच को झूठ बनाने की चेष्टा करूँ? मेरा हरज ही क्या है। मान गया तो वाह-वाह, नहीं तो दो-चार हाथ पदना ही तो पड़ेगा। अँधेरे का बहाना करके जल्दी से गला छुड़ा लूँगा। फिर कौन दाँव देने आता है।

गया ने विजय के उल्लास में कहा, "लग गई, लग गई! टन से बोली।"

मैंने अनजान बनने की चेष्टा करके कहा, "तुमने लगते देखा? मैंने तो नहीं देखा।"

"टन से बोली है सरकार।"

"और जो किसी ईंट में लग गई हो? "

मेरे मुख से यह वाक्य उस समय कैसे निकला, इसका मुझे खुद आश्चर्य है। इस सत्य को झुठलाना वैसे ही था जैसे दिन को रात बताना। हम दोनों ने गुल्ली को डंडे में ज़ोर से लगते देखा था लेकिन गया ने मेरा कथन स्वीकार कर लिया।

"हाँ, किसी ईंट में ही लगी होगी। डंडे में लगती, तो इतनी आवाज़ न आती।"

मैंने फिर पदाना शुरू कर दिया, लेकिन प्रत्यक्ष धाँधली कर लेने के बाद गया की सरलता पर मुझे दया आने लगी, इसलिए जब तीसरी बार गुल्ली डंडे में लगी, तो मैंने बड़ी उदारता से दाँव देना तय कर दिया।

गया ने कहा, "अब तो अँधेरा हो गया है भैया, कल पर रखो।"

मैंने सोचा, कल बहुत-सा समय होगा, यह न जाने कितनी देर पदाए, इसीलिए इसी वक्त मुआमला साफ़ कर लेना अच्छा होगा।

" नहीं, नहीं। अभी बहुत उजाला है। तुम अपना दाँव ले लो।"

"गुल्ली सूझेगी नहीं।"

"कुछ परवाह नहीं।"

गया ने पदाना शुरू किया, पर उसे बिलकुल अभ्यास न था। उसने दो बार टाँड लगाने का इरादा किया, पर दोनों ही बार हुच गया। एक मिनट से कम में वह दाँव पूरा कर चुका। बेचारा घंटा भर पदा, पर एक मिनट ही में अपना दाँव खो बैठा। मैंने अपने हृदय की विशालता का परिचय दिया।

"एक दाँव और खेल लो। तुम पहले ही हाथ में हुच गए।"

"नहीं भैया, अब अँधेरा हो गया।"

"तुम्हारा अभ्यास छूट गया। क्या कभी खेलते नहीं?"

"खेलने का समय कहाँ मिलता है भैया!"

हम दोनों मोटर पर जा बैठे और चिराग जलते-जलते पड़ाव पर पहुँच गए। गया चलते-चलते बोला, "कल यहाँ गुल्ली-डंडा होगा। सभी पुराने खिलाड़ी खेलेंगे। आप भी आओगे? जब आपको फुरसत हो, तभी खिलाड़ियों को बुलाऊँ।"

मैंने शाम का समय दिया और दूसरे दिन मैच देखने आया। कोई दस-दस आदमियों की मंडली थी। कई मेरे लड़कपन के साथी निकले। अधिकांश युवक थे जिन्हें मैं पहचान न सका। खेल शुरू हुआ। मैं मोटर पर बैठा-बैठा तमाशा देखने लगा। आज गया का खेल, उसका वह नैपुण्य देखकर मैं चकित हो गया। टाँड लगाता, तो गुल्ली आसमान से बातें करती। कल की-सी वह झिझक, वह हिचकिचाहट, वह बेदिली आज न थी। लड़कपन में जो बात थी, आज उसने प्रौढ़ता प्राप्त कर ली थी। कहीं कल इसने मुझे इस तरह पदाया होता, तो मैं ज़रूर रोने लगता। उसके डंडे की चोट खाकर गुल्ली दो सौ गज की खबर लाती थी।

पदनेवालों में एक युवक ने धाँधली की! उसने अपने विचार में गुल्ली लोक ली थी। गया का कहना था, "गुल्ली ज़मीन में लगकर उछली थी।" इस पर दोनों में ताल ठोंकने की नौबत आयी। युवक दब गया। गया का तमतमाया हुआ चेहरा देखकर डर गया। अगर वह दब न जाता, तो ज़रूर मारपीट हो जाती। मैं खेल में न था, पर दूसरों के इस खेल में मुझे

वही लड़कपन का आनंद आ रहा था, जब हम सब कुछ भूलकर खेल में मस्त हो जाते थे। अब मुझे मालूम हुआ कि कल गया ने मेरे साथ खेला नहीं, केवल खेलने का बहाना किया। उसने मुझे दया का पात्र समझा। मैंने धाँधली की, बेईमानियाँ कीं, पर उसे ज़रा भी क्रोध न आया। इसलिए कि वह खेल न रहा था, मुझे खेला रहा था, मेरा मान रख रहा था। वह मुझे पदाकर मेरा कचूमर नहीं निकालना चाहता था। मैं अब अफ़सर हूँ। यह अफ़सरी मेरे और उसके बीच में दीवार बन गई है। अब मैं उसका लिहाज पा सकता हूँ, अदब पा सकता हूँ, साहचर्य नहीं पा सकता। लड़कपन था, तब मैं उसका समकक्ष था। हममें कोई भेद न था। यह पद पाकर अब मैं केवल उसकी दया के योग्य हूँ। वह मुझे अपना जोड़ नहीं समझता। वह बड़ा हो गया है, मैं छोटा हो गया हूँ।

संवाद

1. 'गुल्ली-डंडा' को सब खेलों का राजा स्वीकारने के पीछे लेखक का तर्क क्या था? विचारिए।
2. अफ़सर होकर भी लेखक ने ऐसा क्यों महसूस किया कि गया अब बड़ा हो गया है और वह उसके आगे छोटा। विचार कीजिए।

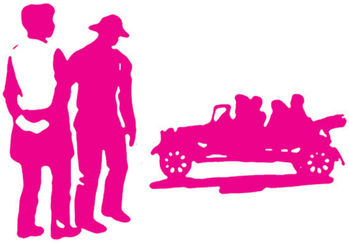

आतिथ्य

जैनेन्द्र कुमार

'आतिथ्य' जैनेन्द्र कुमार की अल्प चर्चित कहानी है जिसमें दो पुराने मित्रों के कुछ वर्षों बाद भेंट का प्रसंग है। यहाँ एक मित्र स्कूल में अध्यापक है, तो दूसरा विलायत से लौटकर डेयरी उद्योग कर रहा है। विलायत से लौटे मित्र के निमंत्रण पर अध्यापक मित्र सपरिवार उसकी डेयरी देखने जाता है, लेकिन उसके हृदयहीन और मनमौजी व्यवहार से खिन्न हो जाता है। जैनेन्द्र कुमार कहानी में बारीक व्यंग्य करते हैं और संबंधों में आ रहे आर्थिक पक्ष को उजागर करते हैं।

1

उनका घर दिल्ली में है, पर जान-पहचान हुई यहाँ इतनी दूर आकर। वे भी फर्स्ट ईयर में दाखिल हुए हैं, मैं भी। विषय भी एक ही है— दोनों के पास साइंस। हॉस्टल में कमरे भी पास-पास हैं। हमारी जान-पहचान खूब गहरी होने लगी। धीरे-धीरे स्थान का नयापन भी दूर हो गया और हम हॉस्टल की ज़िंदगी में मिल गए। अभी तक थे तो हॉस्टल में ही, पर कुछ बेसुरे-से लगते थे।

मेरे मित्र पैसे और दिल से अच्छे हैं। खुले हाथ खर्च करते हैं। हाँ, ज़रा पढ़ने में थोड़ा कुछ...। बड़े कमरे में रहते हैं, थ्री-सीटेड है वह, और इसलिए तिगुना किराया भुगताते हैं।

उनके साथ उस कमरे में ही उनका एक नौकर और एक रसोइया रहता है।

थोड़े दिन बीते कि उनके चारों ओर एक मंडली जुट गई। या यह कहें कि उनके रसोइये के चारों ओर एक मंडली जुट गई। कुछ मित्रों ने मुफ़्त के नौकर और मुफ़्त के श्रीमान को पाकर एक नया मेस खड़ा कर लिया है। मैं भी उस मेस में ही भोजन पाता हूँ।

मित्र का नौकर सबका नौकर है और महाराज पर भी सभी हुक्म चढ़ा देते हैं। मित्र इससे बड़े प्रसन्न हैं। वास्तव में वे बहुत ही भले आदमी हैं। पंद्रहवें रोज़ पिकनिक पार्टी की जाती है और उसका भार भी बिना कहे-सुने वही उठाते हैं, मानो उन्हें मालूम भी नहीं होता। यह पिकनिक की सूझ भी उन्होंने ही सुझायी है, नहीं तो यहाँ किसको पड़ी है और किसके पास पैसा है।

मित्र इस तरह खूब प्रिय और खूब परिचित हो गए हैं। मेरी-उनकी तो बात ही क्या, सभी मानो उनसे घनिष्ठ हो गए हैं और थोड़ा उनका भार और आभार उठाने को तैयार रहते हैं।

इसी तरह साल बीतते रहे। छुट्टी में दिल्ली आते तो वहाँ भी साथ रहते, कॉलेज में तो रहते ही। मुझे उनसे और तरह की बिन-माँगी कृपा मिलती ही थी, उनको भी मुझसे माँगी हुई पढ़ाई की मदद मिल जाती थी। सारांश, हम बहुत अभिन्न हो गए।

2

आखिर आँधी आ गई। कॉलेज टूट-टूटकर गिरने लगे और लड़के भागने लगे। तब मानो यह बड़ा-सा हिंदुस्तान करवट ले रहा था, करवट के साथ करवट नहीं लोगे, तो मानो कहीं के न रहोगे। गाँधी की उस आँधी की चपेट में मैं भी आया। मेरा दिमाग मानो उड़ने लगा। मानो अभी आसमान-धरती एक कर दूँगा और भारत माता की परतंत्रता की बेड़ियों को एक चोट में कट-कटकर काट दूँगा। और इस तरह मैं अमर हो जाऊँगा।

कुछ आँधी की झोंक में, कुछ दिल-दिमाग की झोंक में, कुछ समझकर और कुछ शर्मा-शर्मी में मैं तो कॉलेज छोड़ बैठा, मित्र वहीं रहे।

अब मेरे लिए दो ही काम थे— देश-सेवा और भटकन। इस देश-सेवा में कई बरस लगाए, पर नाप नहीं सका कि देश कितने इंच आगे बढ़ा। आखिर जब देश वहीं-का-वहीं दीखा, बल्कि चाहे कुछ पिछड़ा हुआ और सेवा का कुछ अंत ही नज़र नहीं आया और न महत्व, कुछ थकान होने लगी और मन और कुछ चाहने लगा। लोग भी मेरी देश-सेवा की कम प्रशंसा करने लगे और उससे तंग से दीखने लगे, और पिता की चिट्ठियों-पर-चिट्ठियाँ

आयीं और स्त्री की गड़बड़ खबरें और घर की बे-पैसा हालत, तो क्षुब्ध मन से देश-सेवा छोड़ देनी पड़ी। सोचा था, कुछ करके दिखाऊँगा और पुजुँगा। सो कुछ करके तो दिखा न सका, उल्टे पीठ दिखाकर भागना पड़ गया। घर पर आकर चुपचाप बैठ गया। पिता बीमार हैं, स्त्री भी ठीक नहीं है, और बच्चे यहाँ-से-वहाँ और वहाँ-से-यहाँ और सब जगह से फिर-फिरकर चौके में घूम रहे हैं। चौके में कुछ बना नहीं है। कौन बनाये और कैसे बनाये?

पिता-स्त्री की इस बीमारी और बच्चों के घूमने का परिणाम यह हुआ कि मैं एक मिडिल स्कूल में मास्टर हो गया। इस दवा ने काम भी खूब किया, क्योंकि पिता चंगे हो गए, स्त्री भी ठीक रहने लगी, रोटी ठीक बनने और बच्चों को मिलने लगी। पैंतीस रुपये की करामात को अब देखा। हज़ारों रुपये इकट्ठे किए हैं और दे दिए हैं, रूखी रोटी भी खायी है और पैदल भी चला हूँ, पर पैसे का पूरा मूल्य और पूरी करामात अब से पहले समझ नहीं आयी। देश-सेवा में ऐसी करामात नहीं नज़र आयी। उसे पैंतीस रुपये में छोड़ देने के लिए मैं पछताता नहीं हूँ। अपनी देश-सेवा में मैं अभी तक एक भी रोगी नहीं अच्छा कर पाया हूँ, एक को भी खुश नहीं कर पाया हूँ, एक को भी अपना नहीं बना पाया हूँ, यहाँ तक कि अपने को भी कुछ नहीं बना पाया हूँ। लेक्चर से यह कुछ भी काम नहीं होता। इन पैंतीस ने अच्छा भी किया, खुश भी किया, लोग भी कुछ अपने बनते जा रहे हैं और अपने को भी समझता हूँ, बना रहा हूँ।

3

तो इसी मास्टरी के काल में कोई सात साल बाद एक रोज़ दिखायी दे गए वही कॉलेज वाले मित्र।

चाँदनी चौक में कुछ खरीद कर रहे हैं। हैट है और चमकते बूट हैं, पतलून बड़ी नफ़ीस है, कोट नाभि से ज़रा नीचे तक आ गया है।

कॉलेज की मेरी पढ़ाई की श्रेष्ठता धरी रही और मैं झिझकता रहा। बोलूँ या न बोलूँ? बोलूँ तो कैसे बोलूँ? सर या और कुछ? इतने में ही उन्होंने मुझे देखा।

"ओ-हो! प्रसाद बाबू, तुम कहाँ? हाऊ डू-यू-डू?"

मैंने गुनगुना दिया, "अच्छा हूँ, यहीं हूँ। कृपा है।"

वे नि:संकोच खुलकर बोले, खरीद भी होती जाती थी। एक हैट, कुछ ग्लब्ज और कुछ और चीज़ें, जिनकी अंग्रेज़ी नहीं आती, खरीदी गईं। तब फिर हाथ पकड़कर वह मुझे साथ ले चले। मुझे उनके बोलने में थोड़ी कहीं स्वामित्व की ध्वनि मालूम हुई, बाकी कुछ नहीं।

"कहो भाई, क्या करते हो?"

"मास्टरी से पेट भरता हूँ।"

मेरा भी पुराना साहस लौट आया। फिर अच्छी तरह बातें होने लगीं।

पता लगा बी.एससी. के बाद वे इंग्लैंड चले गए थे। वहाँ से हॉलैंड-डेनमार्क। उनका विषय गोरक्षा और गोवर्द्धन था। इस संबंध में वहाँ बड़ा काम हो रहा है। सब देखा। उसी ओर की कोई डिग्री भी लाये हैं। गो-सेवा की ओर उनकी पहले से प्रवृत्ति है। वहाँ जाकर देखा कि इस संबंध में हिंदुस्तान में काफ़ी किया जा सकता है। यहाँ, वहाँ से भी ज़्यादा सुविधाएँ हैं। उन देशों में ही जाकर हिंदुस्तान की इस संबंध की परिस्थिति का अध्ययन किया। ताजे नये वैज्ञानिक तरीके उपयोग में लाये जाएँ, तो यहाँ गोवंश खूब बढ़ाया और उन्नत किया जा सकता है। लेकिन इस ओर ध्यान नहीं दिया जा रहा है। भारत कृषि प्रधान देश है। गोवंश पर उसका आधार है। इसलिए गो-सेवा के प्रश्न में ही उसका निस्तार है। भारत की स्वतंत्रता भी उसी प्रश्न में संश्लिष्ट है। खेद है कि नेता इस ओर ठीक ध्यान नहीं देते। उनका यही काम होगा कि इस प्रश्न के महत्व को प्रकट करें। वे एक गौशाला (डेयरी) खोलने जा रहे हैं। बिलकुल आधुनिक तरीके पर। उससे दूध शुद्ध मिलेगा और गोवंश की रक्षा और उन्नति के सब उपाय काम में लाये जाएँगे। गोवंश कैसा क्षीण होता जा रहा है और भारत सो रहा है, धिक्कार है!

इस सबका आशय समझ मैंने आश्वासन दे दिया, "डेयरी खोलिए। सेर-भर दूध रोज़ तो मैं ले लिया करूँगा, अपने मित्रों से भी कहूँगा।"

उन्होंने भी देखा, उनका निष्काम लेक्चर व्यर्थ नहीं गया।

तब और बातें हुईं। अभी 15–20 दिन हुए ही लौटे हैं। बड़ा खर्च पड़ता है। पाँच साल में 12 हज़ार। परदेश बड़े अच्छे हैं। जी होता था, वहीं रहने लगूँ। पर भारत का ऋण है। उसे चुकाना होगा। भारत को खींचकर उसी पुराने गो-सेवा के लक्ष्य पर लाना होगा। पहले...!

फिर वही लेक्चर था, जिसे मैंने बड़े धीरज से बर्दाश्त किया। घर के पास आया, तब बोले, "अच्छा...!"

मैंने भी कहा, "अच्छा।"

"भाई, कभी-कभी मिल लिया करो।"

"ज़रूर मिल लिया करूँगा। डेयरी का पता तो लगेगा ही।"

"हाँ-हाँ, क्यों नहीं? वाह!"

इस तरह घर के दरवाज़े पर लौट जाने को मुझे स्वतंत्र छोड़ वे चले गए।

पुराने अभिन्न मित्र को पाकर मैं बहुत प्रसन्न हुआ। घर में जाकर बात सुनायी। सबने मुझे भाग्यशाली स्वीकार किया और अपनी-अपनी श्रद्धा-भेंट उनके दरवाज़े पर चढ़ाने को सोचा।

4

उसके बाद दो-एक दफे देखा तो उनमें अंतर पड़ गया था। बाकी बात वही थी, कपड़े बदल गए थे। यह नहीं कि मूँछें रखा ली हों। हाँ, अब खद्दर की टोपी और आंध्र की मलमल-सी खद्दर की धोती, कुर्ता और चप्पल। बग्घी में बैठे होते थे। मैं पटरी पर चलता होता था। बग्घी सर से निकल जाती थी। कभी देख लेते तो मुस्करा पड़ते थे। तब वे अपनी डेयरी की जुस्तजू में थे और नेताओं से मिलने-मिलाने का काम करते थे।

आखिर एक दिन दिन-दहाड़े ऐसा बीच-सड़क चल रहा था कि बग्घी को अपने आप रुकना पड़ गया। वे उतर आये। बोले, "कहाँ जा रहे हैं, प्रसाद जी?"

" दरियागंज।"

"तो चलिए, मुझे भी उसी तरफ जाना है। बैठ चलिए।"

मैं निष्कंटक बैठ गया। तब पता मिला, डेयरी के काम का आरंभ हो गया है। तभी वहाँ पहुँचने का निमंत्रण भी मिला।

"आओ भाई, किसी दिन देख जाना। कुछ नहीं तो सैर ही सही। दूर तो है नहीं। वहाँ से कुल 3–4 मील जगह होगी।"

मैंने कुछ हाँ-हाँ, हूँ-हूँ कर ही दिया।

तब कितनी ज़मीन ली गई है, किस तरह उसे बोने के लिए बाँटा है, गायों की किस्म और तादाद और विशेषताएँ और गुन-गान और उनका महत्व आदि-आदि का अविरल बखान मैंने सुन लिया। उनकी गाड़ी में बैठा था। पर आपसे धीरज से न सुना जाएगा, इसलिए जाने दें।

उनका रास्ता जहाँ अलग होता था, वहाँ...!

"अब यहाँ...!"

मैं चट से बग्घी से कूद पड़ा।

"देखो, प्रसाद आना। किसी दिन भी आ जाना। नहीं तो मैं ही ले चलूँ?"

मैंने भी कह दिया, "यही ठीक रहेगा। घर पर आठ बजे मिलूँगा। चला चलूँगा इतवार को।"

"अच्छा, मैं गाड़ी लेता आऊँगा। ध्यान रखना।"

"अच्छा।"

उनकी बग्घी चली गई और इतवार को घर पर नहीं आ सकी। पीछे पता चला, आवश्यक काम लग गया था।

5

मेरे घर एक स्वामी जी आये हैं। असहयोग के जमाने ने उन्हें अकस्मात संयोगवश प्रसिद्धि दे डाली है। पर प्रसिद्धि उनके योग्य नहीं है। प्रसिद्धि जैसी बाज़ारू चीज़ उनके साथ लगी अच्छी नहीं लगती। वे उससे घबराते भी हैं। मुझ पर उनका विशेष अनुग्रह है। मेरे वे पिता और गुरु सरीखे हैं। मेरे इस अध:पात के ज़माने में भी उन्होंने अपना अनुग्रह मुझ पर से नहीं उठा लिया है। वे बड़ी जगह ठहरने और जाने से बचते हैं, और मेरे ही यहाँ ठहरते हैं।

दिल्ली की तंग गलियों और मकानों में उनकी उन्मुक्त आत्मा चैन नहीं पाती, इससे वे दिन में और रात में ज़्यादातर बाहर निकल जाते हैं। हाँ, खाने का तो हमारे यहाँ ठीक है, बाकी कुछ नहीं।

इतवार का दिन था। मेरी छुट्टी थी। स्वामी जी ने कहा, "हम तो जाते हैं।"

" कहाँ जाइयेगा?"

"जिधर को चल दिया।"

"अच्छा ठहरिए।" मैंने कहा और मित्र की डेयरी जाने के आमंत्रण की बात सोचनी आरंभ कर दी। दिन अच्छा है, चलो यही सही और आज ही सही। अपने ऐसे बढ़िया मित्र को दिखाकर अपने मन को भी थोड़ी शाबासी जीतने की इच्छा हुई। स्वामी जी की निगाह में मैं कुछ उठ ही जाऊँगा। बोला, "स्वामी जी, एक जगह चलते हैं। एक डेयरी है, खुली जगह है, खेती भी है। मेरे एक पुराने मित्र का स्थान है।"

"चलो।"

मैं, मेरी स्त्री, छोटा बच्चा और स्वामी जी– गाड़ी लेकर हम चारों चल दिए। दोपहर होते-होते वहाँ पहुँच गए। मित्र वहीं मिले।

बड़ी लंबी-चौड़ी जगह है। यह गायों के रहने की जगह है, यहाँ दुही जाती हैं, यहाँ चरती हैं, वगैरह। ज़मीन इस तरह बाँटी गई है, इतने में चारागाह, इतने में अनाज की खेती, इतने में साग-भाजी, थोड़े में फल-फूल, उधर ईख है– यह सब-कुछ भी। पानी का यों इंतजाम किया, इतनी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा, अब बहुत ठीक हो गया है, खर्च बड़ा पड़ गया है आदि-आदि व्यवसाय की बातें भी; दूध ऐसे ठीक रहता है, जर्म्स नहीं रहने चाहिए आदि-आदि ज्ञान की बातें; अपने इस आदमी की और उस गो की शिकायत और तारीफ़— इस प्रकार मित्र ने फुटकर सूचनाओं और ज्ञान का भंडार हमारे सामने पटक दिया। हमने कुछ सुना, कुछ नहीं सुना और बाकी बिखेर दिया।

हमने गो-सेवा के और कमाई के इस काम को देखकर प्रसन्नता जतलायी।

तब खाने की कुछ इच्छा प्रकट की। लेकिन यह भूल गए कि इस साल पाला कड़ाके का पड़ा था। खेती का सत्यानाश कर गया। चने के पौधे मरे पड़े हैं, बूँट अभी न जाने कब आयेंगे, बाल गेहूँ की आयी नहीं झुलस गई हैं, इसी से मटर में भी दाने नहीं पड़ पाये हैं। आखिर एक ज़रा ठीक-सा चने का खेत दीख पड़ा है, किंतु हैं!

"उसमें फूल आ गए हैं, उसे नहीं। मैं दूसरा खेत बताता हूँ। वहाँ चने का साग ठीक मिलेगा।"

मेरी स्त्री ने चौंककर उस फूलदार चने के साग पर से हाथ उठा लिए। दूसरे खेत पर पहुँचे। कोंपले तोड़-तोड़कर खाकर कुछ तुष्टि प्राप्त की। मित्र इस बीच अपने इस उद्योग की अवस्था हमारे सामने फैलाते रहे।

"खेती यों होती, पर यह पाला...?"

पता चला गाजर-मूली हैं। उन्हें ही मँगाओ भाई! आखिर लौटकर आये और दुग्धशाला के आगे खुले मैदान में खाट डालकर बैठ गए। पेंसिल-सी मूलियाँ और अंगुल-भर की गाजरें धोकर तश्तरी में पेश की गईं। हम चार जने एक तश्तरी-भर ये फल कैसे खा जाएँगे? तश्तरी सामने पेश करके सभ्यता भी जैसे यह देखने खड़ी हो गई है। इससे कुछ तो भूख ही खायी और बड़े आहिस्ते से उठाकर तश्तरी में रखी इन फलों की एक-एक तराश खायी। खा चुके, तब मित्र ने हुक्म दिया और तश्तरी नौकर उठाकर ले गया।

लेकिन बच्चा भूख नहीं निगल सका है। और मेरी स्त्री भी ज़रा-ज़रा...! मैं बड़ा सभ्य बन रहा हूँ, मानो वह तराश भी मेरे पेट में जाकर बैठ गई है। स्वामी जी बड़े प्रसन्न हैं।

एक बात भूल गया। गायों को दुहने वाले आदमी को छह रोज़ हुए एक गाय ने लात मार दी थी। उसकी आँख में लगी, आँख बेकाम हो गई और उसे अलहदा कर देना पड़ा। अभी तक दूसरे आदमी का बंदोबस्त हो नहीं पाया है, इसलिए इसे उससे ही काम चलाना पड़ता है। इस तरह मिकदार से आठ पौंड दूध कम दुहा जा रहा है। कारण बताया गया।

"दुहने की एक खास प्रणाली होती है, ज़ोर भी पड़ता है। आदी होने की बात है। जो नहीं जानता वह...!"

लेकिन कारण जानने को हम बहुत उत्सुक नहीं हैं। बस, हो गई बात कि आठ पौंड दूध कम होता है।

तो शाम हो रही है। अब चलना चाहिए। उधर सामने ही पौने दो सौ पौंड दूध तुल चुका है। अब सील लगा के बाज़ार में जाएगा। बँधे ग्राहक हैं, वहीं पहुँच जाता है। बल्कि आठ पौंड कम दूध होने से बड़ी मुश्किल हो रही है। डिमांड ज़्यादा है, सप्लाई कम– फिर उसमें से भी ये आठ पौंड कम हो गए हैं। बड़ी मुश्किल है!

कैसा साफ़-सफेद गाढ़ा दूध भरा रखा है और कितना सारा! बच्चे ने माँ से कहा और मैंने सुना। पर मैं चुप रहा। स्वामी जी ने भी सुना, वे भी चुप रहे और हँस पड़े।

आखिर बच्चे की खातिर स्त्री को बेहयाई भुगतनी पड़ी। अलग बुलाकर कहा, "बच्चे के लिए थोड़े दूध को कह देते!"

मन करारा बनाकर मैंने जवाब दिया, "हाँ-हाँ, सो क्या बात है!"

मैंने फिर मित्र से कहा, "भाई, डेयरी में आया दूध चखा ही नहीं, यह भी कोई बात है?" मित्र पानी हो गए, बोले, "भई प्रसाद, आठ पौंड...!"

आगे की बात नहीं कहूँगा। चुप कर देने वाली सफ़ाई थी।

जी हुआ उस पौने दो सौ पौंड दूध में थूक दूँ और कीमत देकर मुकाबले को खड़ा हो जाऊँ। लेकिन कहा, "जाने भी दो। तो क्या हुआ? ऐसा क्या मैं कुछ नहीं समझता?"

फौरन हम चले आए। बच्चा भूखा रहा, पर रास्ते में कोई बाज़ार थोड़े ही पड़ता है जो कुछ लेकर दे दिया जाता!

घर के सब लोग इकट्ठा हुए। स्वामी जी ने हँसकर कहा, "देखे आपके मित्र? यही तो दुनिया है!"

मैं बचाव पर उद्यत हुआ, बोला, "वे...। लेकिन...!"

पर बात कहने को मिली नहीं। स्वामी जी ने कहा, "तुमको भी ऐसा बनना चाहिए, समझे!"

मैं चुप।

तब से स्त्री को अच्छी बात कहने को मिल गई है और मैं चुप हो जाता हूँ। पर मैं भी समझता हूँ— लाचारी एक चीज़ होती है और नीयत पर हमला नहीं होना चाहिए।

लेकिन स्वामी जी सब बातों पर हँस देते हैं।

संवाद

1. "अपनी देश-सेवा में मैं अभी तक एक भी रोगी नहीं अच्छा कर पाया हूँ, एक को भी खुश नहीं कर पाया हूँ, एक को भी अपना नहीं बना पाया हूँ, यहाँ तक कि अपने को भी कुछ नहीं बना पाया हूँ।" लेखक ऐसा क्यों कह रहा है?
2. लेखक के घर पर स्वामी जी को मिलने वाले आतिथ्य और लेखक के मित्र की डेयरी पर सबको मिले आतिथ्य में क्या फ़र्क था? विचार कीजिए।

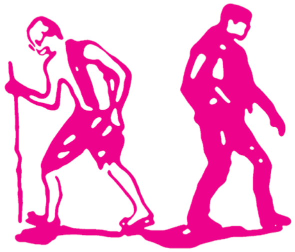

दो आस्थाएँ

अमृतलाल नागर

'दो आस्थाएँ' अमृतलाल नागर की एक बहुचर्चित स्वातंत्र्योत्तर कहानी है। पंडित देवधर ने अपनी कोठी के बाहरी भाग में पूजा-पाठ हेतु गुफा जैसा माता सरस्वती का मंदिर बनवाया था, जहाँ वे अपने पूर्वजों के नियमानुसार पूजा-पाठ करते रहते हैं। देवधर के दोनों पुत्र और बहुएँ अपने पाश्चात्य विचारों के कारण उनके सख्त खिलाफ हैं। वे रूढ़ियों को तोड़कर घर में कुत्ता पालन तथा माँस-मछली का सेवन करते हैं जिससे घर में आपसी विरोध होता है; इसी कारण पिता-पुत्रों में आत्मीयता भी समाप्त हो जाती है। इससे तंग आकर देवधर अन्न-पानी तक छोड़ देते हैं। इस कहानी में धार्मिक आस्था और अनास्था का विवेचन किया गया है।

1

"अरी कहाँ हो? इंदर की बहुरिया", कहते हुए आँगन पार कर पंडित देवधर की घरवाली सँकरे, अँधेरे, टूटे हुए जीने की ओर बढ़ी।

इंदर की बहू ऊपर कमरे में बैठी बच्चे का झबला सी रही थी। मशीन रोककर बोली, "आओ, बुआ जी। मैं यहाँ हूँ।" कहते हुए वह उठकर कमरे के दरवाज़े तक आयी।

घुटने पर हाथ टेककर सीढ़ियाँ चढ़ते हुए पंडिताइन इस कदर हाँफ रही थीं कि ऊपर आते ही जीने के बाहर की दीवार से पीठ टेककर बैठ गईं।

इंदर की बहू आगे बढ़कर पल्ले को दोनों हाथों की चुटकियों से पकड़ सात बार अपनी फुफिया सास के पैरों पड़ी।

"ठंडी सीरी बूढ़ सुहागन, दूधन नहाओ पूतन फलो!" आशीर्वाद देते हुए पंडिताइन

रुकीं; दम लेकर अपने आशीर्वाद को नया बोल देते हुए कहा, "हम तो बहुरिया रात-दिन यही मनाए हैं। पहलौठी का होता, तो आज दिन ब्याव की फिकर पड़ती। (दबी आह) राम करैं, मारकंडे की आर्बल लैके आवै जल्दी से। राम करैं, सातों सुख भोगो बेटा!"

इंदर की बहू का मुख-मंडल करुणा और श्रद्धा से भर उठा, पलकें नीची हो गईं। फुफिया सास की बाँह पकड़कर उठाते हुए कहा, "कमरे में चलो, बुआ जी।"

"चलो, रानी। तनिक सैताय लिया, तो साँस में साँस अमाई। अब हमसे चढ़ा-उतरा नाहीं जाय है बेटा। क्या करैं?"

बुआ जी उठकर बहुरिया के साथ अंदर आयी। मशीन पर नन्हा-सा झबला देखकर बुआ जी ने एक बार अपनी भतीज-बहू को खुफ़िया पुलिस की दृष्टि से देखा, फिर पूछा, "ई झगला..."

"दूधवाली के बच्चे के लिए सी रही हूँ। चार बिटियों के बाद अबके लड़का हुआ है उसे। बड़ा शुभ समै है, बिचारी के लिए।"

"बड़ी दया-ममता है बहू, तुमरे मन में। ठाकुर जी महाराज तुमरी सारी मनोकामना पूरी करैं। तुम्हें और इंदर को देख के ऐसा चित्त परसन्न होए है, ऐसा कलेजा जुड़े है बेटा, कि... जुग जुग जियौ! एक हमरे भोला-तिरभुअन की बहुएँ हैंगी। (आह, फिर विचार-मग्नता) हूँ:! जैसा मानुख बैसी जोय। बहूबानी तो कच्चा बेंत होमें हैंगी। पराये घर की बेटियों को क्या दोस दूँ।"

"कोई नयी बात हुई, बुआ जी?"

"अ-रे। जिस घर के सिंस्कार ही बदल जाएँ, उस घर में नित्त नयी बातें होमेंगी। हम तो कहमे हैं रानी, कि हमरे पाप उदै भए हैं।"

कहकर बुआ जी की आँखें फिर शून्य में सध गईं। इंदर की बहू को 'नयी बात' का सूत्र नहीं मिल पा रहा था, इसलिए उसके मन में उथल-पुथल मच रही थी। कुछ नयी बात ज़रूर हुई है; वो भी कहते थे कि फूफा जी कुछ उखड़े से खोए हुए से हैं।

"बड़े देवर की कुतिया क्या फिर चौके में।..." इंदर की बहू का अनुमान सत्य के निकट पहुँचा। घटना पंडित देवधर के ज्येष्ठ पुत्र डॉक्टर भोलाशंकर भट्ट द्वारा पाली गई असली स्कॉटलैंड के श्वान की बेटी जूलियट के कारण ही घटी। इस बार तो उसने गजब ही ढा दिया। पंडित जी की बगिया में पुरखों का बनवाया हुआ एक गुप्त साधना-गृह भी है। घर की चहारदीवारी से अंदर ही यह बगिया

भी है, उसमें एक ऊँचे चबूतरे पर एक छोटा-सा मंदिर बना है। मंदिर में एक संन्यासी का पुराना कलमी चित्र चंदन की नक्काशीदार, जर्जर चौकी पर रखा है। उस छोटे से मंदिर में उकड़ूँ बैठकर ही प्रवेश किया जा सकता है। मंदिर के अंदर जाकर दाहिने हाथ की ओर एक बड़े आलेनुमा द्वार से अपने सारे शरीर को सिकोड़कर ही कोई मनुष्य साधना-गृह में प्रवेश कर सकता है। इस गृह में संगमरमर की बनी सरस्वती देवी की अनुपम मूर्ति प्रतिष्ठित है, जिस पर सदा तेल से भिगोया रेशमी वस्त्र पड़ा रहता है। केवल श्रीमुख के ही दर्शन होते हैं। मूर्ति के सम्मुख अखंड दीप जलता है। यह साधना-गृह एक मनुष्य के पालथी मारकर बैठने लायक चौड़ा तथा मूर्ति को साष्टांग प्रणाम करने लायक लंबा है। पंडित देवधर जी भट्ट के प्रपितामह के पिता को संन्यासी ने यह मूर्ति और महासरस्वती का बीज-मंत्र दिया था। सुनते हैं, उन्होंने संन्यासी की कृपा से यहीं बैठकर वाग्देवी को सिद्ध किया और लोक में बड़ा यश और धन कमाया था। पंडित जी के पितामह और पिता भी बड़े नामी-गिरामी हुए। रजवाड़ों में पुजते थे। पंडित देवधर जी को यद्यपि पुरखों का सिद्ध किया हुआ बीज-मंत्र नहीं मिला, फिर भी उन्होंने अपने यजमानों से यथेष्ट पूजा और दक्षिणा प्राप्त की। बीज-मंत्र इसलिए न पा सके कि वह उत्तराधिकार के नियम से पिता के अंतकाल में उनके बड़े भाई धरणीधर जी को ही प्राप्त हुआ था और वे भरी जवानी में ही हृदय गति रुक जाने से स्वर्ग सिधार गए थे। पंडित जी पुरखों की सरस्वती के बड़े कठोर उपासक थे। फिर भी पंडित देवधर जी ने आजीवन बड़ी निष्ठा के साथ जगदंबा की सेवा की है।

एक दिन नित्य-नियमानुसार गंगा से लौटकर सबेरे पंडित जी ने जब साधना-गृह में प्रवेश किया, तो उसे भोला की कुतिया के सौरी-घर के रूप में पाया। पंडित जी की क्रोधाग्नि प्रचंड रूप से भड़क उठी। लड़के, लड़कों की बहुएँ एकमत होकर पंडित देवधर

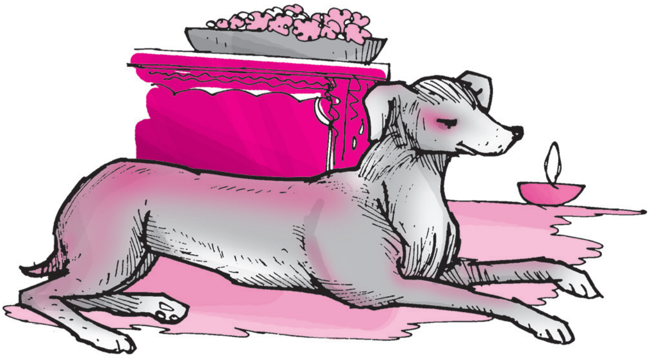

जबानी मोर्चा लेने लगे। पंडित देवधर जी ने उस दिन से घर में प्रवेश और अन्न-जल ग्रहण न करने की प्रतिज्ञा ले रखी है। वे साधना-गृह के पास कुएँ वाले दालान में पड़े रहते हैं। आज चार दिन से उन्होंने कुछ नहीं खाया। कहीं और बाज़ार में तो वे खाने-पीने से रहे, शायद इंदर के घर भोजन करते हों। यही पूछने के लिए इंदर की बुआ इस समय यहाँ आयी थीं, परंतु उनकी भतीज-बहू ने जब उनके यहाँ भोजन न करने की बात बतायी, तो सुनकर बुआ जी कुछ देर के लिए पत्थर हो गईं। पति की अड़सठ वर्ष की आयु, नित्य सबेरे तीन बजे उठ दो मील पैदल चलकर गंगाजी जाना-आना, अपना सारा कार्यक्रम निभाना, दोपहर के बारह-एक बजे तक ब्रह्म-यज्ञ, भागवत पाठ, सरस्वती कवच का जप आदि यथावत चल रहा है और उनके मुँह में अन्न का एक दाना भी नहीं पहुँचा, यह विचार बुआ जी को जड़ बना रहा था।

"ये तो सब बातें मुझे इस बखत तुमसे मालूम पड़ रही हैं, बुआ जी। फूफा जी ने तो मेरी जान में कभी कुछ भी नहीं कहा। कहते तो मेरे सामने जिकर आये बिन न रहता।"

"अरे तेरे फूफा जी तो रिसी-मुनी हैंगे, बेटा। बस इन्हें करोध न होता, तो इनके ऐसा महात्मा नहीं था पिरथी पे। क्या करूँ, अपना जो धरम था, सो निभा दिया। जैसा समय हो, वैसा नेम साधना चाहिए। पेट के अंश से भला कोई कैसे जीत सके है।"

"तो फूफा जी आखिर कितने दिन यों ही बिना खाये चल सकेंगे। बुढ़ापे का शरीर है..."

"वोई तो मैं भी कहूँ हूँ, बेटा। मगर इनकी जिद के अगाड़ी मेरी कहाँ चल पावे है। बहोत होवे है, तो कोने में बैठ के रो लूँ हूँ।" कहते-कहते बुआ जी का गला भर आया, बोलीं– "इनके सामने सबको रख के चली जाऊँ, तो मेरी गत सुधर जाये। जाने क्या-क्या देखना बदा है लिलार में!" बुआ जी टूट गईं, फूट-फूटकर रोने लगीं।

"तुम फिकर न करो, बुआ जी। इतने दिनों तक तो मालूम नहीं था, पर आज से फूफा जी के खाने-पीने का सब इंतज़ाम हो जायेगा।"

2

डॉक्टर इंद्रदत्त शर्मा के यूनिवर्सिटी से लौटकर आने पर चाय पीते समय उनकी पत्नी ने सारा हाल कह सुनाया। इंद्रदत्त सन्न रह गए। प्रेयसी के समान मनोहर लगनेवाली चाय की प्याली परित्यक्ता वधू की तरह उनके ध्यान-मन से उतर गई। इंद्रदत्त अपने फूफा जी के हठ को पहचानते थे। फूफा जी बिना किसी से कुछ कहे-सुने इसी प्रकार अनशन पर प्राण त्याग कर सकते हैं, इसे इंद्रदत्त अच्छी तरह जानते थे। उनके अंतर का कष्ट चेहरे पर तड़पने लगा। पति की व्यथा को गौर से देखकर पत्नी ने कहा, "तुम आज उन्हें खाने के लिए रोक ही लेना। मैं बड़ी शुद्धताई से बनाऊँगी।"

"प्रश्न यह है, वे मानेंगे भी? उनका तो 'चंद्र टरै सूरज टरै' वाला हिसाब है।"

"तुम कहना तो सही।"

"कहूँगा तो सही, पर मैं जानता हूँ। मगर इस तरह चलेंगे कितने दिन? भोला को ऐसा हठ न करना चाहिए।"

"भोला क्या करें। कुतिया के पीछे-पीछे घूमते फिरें?"

"शौक है अपना और क्या? फूफा जी को भी इतना विरोध न करना चाहिए।"

"फूफा जी का न्याय हम नहीं कर सकते।"

"अभी मान लो तुम्हारे साथ ही ऐसी गुज़रती?"

"मैं निभा लेता।"

"कहना आसान है, करना बड़ा मुश्किल है। फूफा जी तो चाहते हैं, सब-के-सब पुराने ज़माने के बने रहें। चोटी-जनेऊ, छूत-छात, सिनेमा न जाओ और घूँघट काढ़ो, भला ये कोई भी मानेगा?"

"मेरे ख्याल में फूफा जी इस पर कुछ..."

"भले न कहें, उन्हें अच्छा तो नहीं लगता।"

"ठीक है। तुम्हें भी मेरी बहुत-सी बातें अच्छी नहीं लगतीं, मुझे भी तुम्हारी कुछ बातें अच्छी नहीं लगतीं।"

"कौन-सी बातें?"

"मैं शिकायत नहीं करता। उदाहरण दे रहा हूँ। ठीक-ठीक एक मत के कोई दो आदमी नहीं होते। होते भी हैं, तो बहुत कम। पर इससे क्या लोगों में निभाव नहीं होता? भोला और उसकी देखा-देखी त्रिभुवन में भी घमंड आ गया है। माँ-बाप को ऐसे देखते हैं, जैसे उनसे

पैदा ही नहीं हुए। फूफा जी हठी और रूढ़िपंथी हैं सही, पर एकदम अवज्ञा के योग्य नहीं। ये लोग उन्हें चिढ़ाने के लिए घर में प्याज, लहसुन, अंडा, मछली, सब कुछ खाते हैं। फूफा जी ने अपना चौका ही तो अलग किया। किसी से कुछ कहा-सुना तो नहीं?"

स्वभाव से शांत और बोलने में मितव्ययी इंद्रदत्त इस समय आवेश में आ गए थे। फूफा जी चार दिनों से निराहार हैं। फूफा जी के प्रति उनका सदा से बड़ा आदर-भाव था। लोक उनका आदर करता है। इधर महीनों से इंद्रदत्त के आग्रह पर पंडित देवधर जी प्रतिदिन शाम के समय दो-ढाई घंटे उनके घर बिताते हैं। कभी भागवत, कभी रामायण, कभी कोई पौराणिक उपाख्यान चल पड़ता है। पंडित जी अपनी तरह से कहते हैं, इंद्रदत्त उनके द्वारा प्राचीन समाज के विकास क्रम में चित्र देखता, उनसे अपने लिए नया रस पाता। कभी-कभी बातों के रस में आकर अपने राजा-तालुकेदार यजमानों के मज़ेदार संस्मरण सुनाते हैं। कभी उनके बचपन और जवानी की स्मृतियों तक से टकराती हुई पुरानी सामाजिक तस्वीरें, इन मुहल्लों की पुरानी झाँकियाँ सामने आ जाती हैं। फूफा जी के अनुभवों से अपने लिए ज्ञान-सूत्र बटोरते हुए उनके निकट संपर्क में आकर इंद्रदत्त को आदर के अलावा उनसे प्रेम भी हो गया है।

इंद्रदत्त की पत्नी के मन में आदर-भाव तो है, पर जब से वे बराबर आकर बैठने लगे हैं, तब से उसे एक दबी-ढँकी शिकायत भी है। पति के साथ घड़ी-दो घड़ी बैठकर बातें करने, कैरम या चौसर खेलने, या अपने पैतृक घर के संबंध में, जो अब नए सिरे से बन रहा है, सलाह-सूत करने का समय उसे नहीं मिल पाता। अपनी छोटी देवरानी त्रिभुवन की बहू से बड़ा नेह-हेत होने का कारण उसकी बातों में विश्वास रखकर वह फूफा जी के पुरानेपन से किसी हद तक फिरंट भी है। इसीलिए जब इंद्रदत्त ने यह कहा कि घर में माँस-मछली के प्रयोग के बाद फूफा जी ने अपना चौका अलग कर लिया, मगर कुछ बोले नहीं, तो उनकी पत्नी से रहा न गया। कहने लगी– "तो उन लोगों से... अरे, पोते-पोतियों तक से तो बोलते नहीं, फिर शिकायत किससे करेंगे?"

"फूफा जी को पहचानने में बस यहीं तुम लोग गलती करते हो। उनका प्रेम प्रायः गूँगा है। मैंने अनुभव से इस बात को समझा है।" बंद रहने पर भी झिरझिरे दरवाज़ों से जिस तरह गरम लू के तीर आते हैं, संयमी इंद्रदत्त के अंदर में उद्वेग इसी तरह प्रकट हो रहा था।

पत्नी ने पति के रुख पर रुख किया, तुरंत शांत और मृदु स्वर में कहा, "मैं फूफा जी को पहचानती हूँ। उनके ऐसे विद्वान की कदर उस घर में नहीं। उनका प्रेम तुम जैसों से ही हो सकता है। तुम चिंता न करो। बरत आज पूरा हो जायेगा।"

“मान जायेंगे?” पत्नी के चेहरे तक उठी इंद्रदत्त की आँखों में शंका थी, उनका स्वर करुण था।

“प्रेम नेम से बड़ा है।” पति के क्षोभ और चिंता को चतुराई के साथ पत्नी ने मीठे आश्वासन से हर लिया, परंतु वह उन्हें फिर चाय-नाश्ता न करा सकी।

3

डॉक्टर इंद्रदत्त शर्मा फिर घर में बैठ न सके। आज उनका धैर्य डिग गया था। फूफा जी लगभग छै-साढ़े छै को आते हैं। इंद्रदत्त का मन कह रहा था कि वे आज भी आयेंगे; पर शंका भी थी, मुमकिन है अधिक कमज़ोर हो गए हों, न आयें। इंद्रदत्त ने स्वयं जाकर उन्हें बुला ले आना ही उचित समझा। हालाँकि उन्हें यह मालूम है कि इस समय फूफा जी स्नान-संध्या आदि में व्यस्त रहते हैं। पंडित देवधर जी का घर अधिक दूर न था। डॉक्टर इंद्रदत्त सदर दरवाज़े से घर में प्रवेश करने की बजाय एक गली और पार करके बगिया के द्वार पर आये। फूफा जी गंगा लहरी का पाठ कर रहे थे। फूलों की सुगंधि-सा उनका मधुर स्वर बगिया की चहारदीवारी के बाहर महक रहा था—

अपि प्राज्यं राज्यं तृणमिव परित्यज्य सहसा,
विलोल द्वानीरं तव जननि तीरे श्रित वताम्।
सुधात: स्वादीप: सलिलमिदाय तृप्ति पिबतां,
जनानामानंदः परिहसति निर्वाण पदवीम्।।

इंद्रदत्त दरवाज़े पर खड़े-खड़े सुनते रहे। आँखों में आँसू आ गए। फूफा जी का स्वर उनके कानों में मानो अंतिम बार की प्रसादी के रूप में पड़ रहा था। कुछ दिनों बाद, कुछ ही दिनों बाद यह स्वर फिर सुनने को नहीं मिलेगा। कितनी तन्मयता है, आवाज़ में कितनी जान है! कौन कहेगा कि पंडित देवधर का मन क्षुब्ध है, उन्होंने चार दिनों से खाना भी नहीं खाया है?...ऐसे व्यक्ति को, ऐसे पिता को भोला-त्रिभुवन कष्ट देते हैं। इंद्रदत्त इस समय अत्यंत भावुक हो उठे थे। उन्होंने फूफा जी की तन्मयता भंग न करने का निश्चय किया। गंगा लहरी पाठ कर रहे हैं, इसलिए नहाकर उठे हैं या नहाने जा रहे हैं, इसके बाद संध्या करेंगे। फूफा जी से भेंट हो जाएगी। उनके कार्यक्रम में विघ्न न डालकर इतना समय बुआ के पास बैठ लूँगा, यह सोचकर वे फिर पीछे की गली की ओर मुड़े।

4

"अम्मा!"

"हाँ, बड़ी बहू।" वह अपने कमरे में, दरवाज़े के पास घुटनों पर ठोड़ी टिकाये दोनों हाथ बाँधे गहरी सोच में बैठी थीं। जेठे बेटे की बहू का स्वर सुनकर तड़-फड़ ताजी हो गईं। हाँ, इतनी देर के खोयेपन ने उनके दीन स्वर में बड़ी करुणा भर दी थी।

बड़ी बहू के चेहरे की ठसक को उनकी कमर के चारों ओर फूली हुई चर्बी सोह रही थी, आवाज़ भी उसी तरह मिज़ाज के काँटे पर सधी हुई, बोली, "उन्होंने पुछवाया है कि दादा आखिर चाहते क्या हैं?"

"वो तो कुछ भी नहीं चाहे हैं, बहू।"

"तो ये अनशन फिर किस बात का हो रहा है?"

पंडित देवधर की सहधर्मिणी ने स्वर को और संयत कर उत्तर दिया, "उनका सुभाव तो तुम जानो ही हो, बहुरिया।"

"ये तो कोई जवाब नहीं हुआ, अम्मा। तो क्या जान देंगे? ऐसा हठ भी भला किस काम का? बड़े विद्वान हैं, भक्त हैं, दुनिया-भर को पुन्न और परोपकार सिखाते हैं... कुत्ते में क्या उसी भगवान की दी हुई जान नहीं है?"

बड़ी बहू तेज पड़ती गई, सास चुपचाप सुनती रही।

"ये तो माँ-बाप का धरम नहीं हुआ, ये तो दुश्मनी हुई, और क्या? घर में सबसे बोलना-चालना तो बंद कर ही रखा था..."

"बोलना-चालना तो उनका सदा का ऐसा ही है, बेटा। तुम लोग भी इतने बरसों से देखते हो, भोला-तिरभुअन तो सदा से जाने हैं।"

“इंदर भाई साहब के यहाँ तो घुल-घुल के बातें करते हैं।”

“इंदर पढ़ा-लिखा है न, वैसी ही बातों में इनका मन लगे है। इसमें...”

“हाँ-हाँ, हम लोग तो सब गँवार हैं, भ्रष्ट हैं। हम पापियों से बोलने क्या देखने से भी उनका धर्म नष्ट होता है।”

“बहू! बेटा, गुस्सा होने से कोई फायदा नहीं। हम लोग तो अब चिता में खड़े भये हैंगे, रानी। तुम सब को रख के उनके सामने चली जाऊँ, विश्वनाथ बाबा से उठते-बैठते आँचल पसार के वरदान माँगूँ हूँ, बेटा। अब... मेरे कलेजे में दम नहीं रहा, क्या करूँ?”

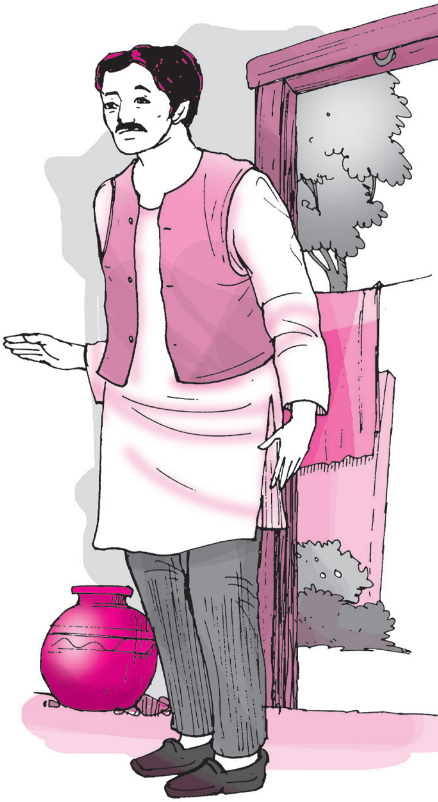

बुआ जी रो पड़ीं।

इंद्रदत्त ज़रा देर से दालान में ठिठके खड़े थे, बुआ को रोते देख उनकी भावुकता थम न सकी, पुकारा, “बुआ!”

बुआ जी एक क्षण के लिए ठिठकीं, चट से आँसू पोंछ, आवाज़ सँभालकर मिठास के साथ बोलीं, “आओ, भैया।”

भोला की बहू ने सिर का पल्ला ज़रा सँभाल लिया और शराफ़ती मुस्कान के साथ अपने जेठ को हाथ जोड़े।

इंद्रदत्त ने कमरे में आकर बुआ जी के पैर छुए और पास ही बैठने लगे। बुआ जी हड़बड़ाकर बोलीं, “अरे, चारपाई पर बैठो।”

“नहीं। मैं सुख से बैठा हूँ आपके पास।”

“तो ठहरो, मैं चटाई...”

बुआ जी उठीं, इंद्रदत्त ने उनका हाथ पकड़कर बैठा लिया और फिर भोला की बहू को देखकर बोला, “कैसी हो, सुशीला? मनोरमा कैसी है?”

“सब ठीक हैं।”

“बच्चे?”

“अच्छे हैं। भाभी जी और आप तो कभी झाँकते ही नहीं। इतने पास रहते हैं और फिर भी...”

"मैं सबकी राज़ी-खुशी बराबर पूछ लेता हूँ। रहा आना-जाना, सो..."

"आपको तो खैर टाइम नहीं मिलता, लेकिन भाभी जी भी नहीं आतीं, बाल नहीं, बच्चे नहीं, कोई काम..."

"घर में मदद लगी है। ऐसे में घर छोड़ के कैसे आये बिचारा।" बुआ जी ने अपनी बहू की बात काटी। बहू आँखें चढ़ाकर याद आने का भाव जनाते हुए बोली, "हाँ, ठीक है। कौन-सा हिस्सा बनवा रहे हैं, भाई साहब?"

"पूरा घर नये सिरे से बन रहा हैगा। ऐसा बढ़िया कि मुहल्ले में ऐसा घर नहीं है किसी का।" सास ने बहू के वैभव को लज्जित करने की दबी तड़प के साथ कहा। बुआ जी यों कहना नहीं चाहती थीं, पर जी की चोट अनायास फूट पड़ी। बड़ी बहू की आँखें चमकीं, अपनी दुहरी ठोड़ी को गर्दन से चिपकाकर अपने ऊपर पड़ने वाले प्रभाव को जतलाया और पूछा, "पर रहते तो शायद..."

"पीछे वाले हिस्से में रहते हैं।"

"इसी हिस्से में जीजा का, मेरा और भैया का जनम भया। एक भाई और भया था। अब यहीं भये। हमरे बाप, ताऊ, दादा और जाने कौने-कौन का जनम..."

"वो हिस्सा तो घर-भर में सबसे ज्यादा खराब है। कैसे रहते हैं?"

"जहाँ पुरखों का जन्म हुआ, वह जगह स्वर्ग से भी बढ़कर है। पुरखे पृथ्वी देवता हैं।"

बड़ी बहू ने आगे कुछ न कहा, सिर का पल्ला फिर सँभालने लगी।

"आज तो बहुत दिनों में आये, भैया। मैं भी इतनी बार गई। बहू से तो भेंट हो जावे है।"

बुआ-भतीजे को बातें करते छोड़कर बड़ी बहू चली गई। उसके जाने के बाद दो क्षण मौन रहा। उसके बाद दोनों ही प्रायः साथ-साथ बोलने को उद्धत हुए। इंद्रदत्त को कुछ कहते देखकर बुआ जी चुप हो गईं।

"सुना, फूफा जी ने..."

"उनकी चिंता न करो, बेटा। वो किसी के मान के हैं?"

"पर इस तरह कितने दिन चलेगा?"

"चलेगा जितने दिन चलना होगा।" बुआ का स्वर आँसुओं में डूबने-उतराने लगा, "जो मेरे भाग में लिखा होगा..." आगे कुछ न कह सकीं, आँसू पोंछने लगीं।

"सच-सच बताना, बुआ जी, तुमने कुछ खाया भी..."

"खाती हूँ। रोज़ ही खाती हूँ।" पल्ले से आँखें ढँके हुए वे बोलीं। इंद्रदत्त को लगा कि वे झूठ बोल रही हैं।

“तुम इसी वक्त मेरे साथ घर चलो, बुआ। फूफा जी वैसे तो आयेंगे ही, पर आज मैं... उन्हें लेकर ही आऊँगा। नहीं तो आज से मेरा भी अनशन आरंभ होगा।”

“करो जो जिसकी समझ आये। मेरा किसी पर ज़ोर नहीं, बस नहीं।” आँखों में फिर बाढ़ आ गई, पल्ला आँखों पर ही रहा।

“नहीं, बुआ जी। या तो आज से फूफा जी का व्रत टूटेगा...”

“कहिए, भाई साहब?” कहते हुए भोला ने कमरे में प्रवेश किया। माँ को रोते देख उसके मन में कसाव आया। माँ ने अपने दुख का नाम-निशान मिटा देने का असफल प्रयत्न किया, परंतु उनके चेहरे पर पड़ी हुई आंतरिक पीड़ा की छाया और आँसुओं से ताजी नहायी हुई आँखें उनके पुत्र से छिपी न रह सकीं। भोला की मुख-मुद्रा कठोर हो गई। माँ की ओर से मुँह फेरकर चारपाई पर अपना भारी भरकम शरीर प्रतिष्ठित करते हुए उन्होंने अपने ममेरे भाई से पूछा, “घर बन गया आपका?”

“तैयारी पर ही है। बरसात के पहले ही कंपलीट हो जाएगा।”

“सुना है, नक्शा बहुत अच्छा बनवाया है आपने।”

इंद्रदत्त ने कोई उत्तर न दिया।

“मैं भी एक कोठी बनवाने का इरादा कर रहा हूँ। इस घर में अब गुज़र नहीं होती।”

इंद्रदत्त खामोश रहे। भोला भी पल-भर चुप रहे, फिर बोले, “दादा का नया तमाशा देखा आपने? आजकल तो वे आपके यहाँ ही उठते-बैठते हैं। हम लोगों की खूब-खूब शिकायतें करते होंगे।”

“तुमको मुझसे ज्यादा जानना चाहिए, पर-निंदा और शिकायतें करने की आदत फूफा जी में कभी नहीं रही।” इंद्रदत्त का स्वर संयत रहने पर भी किंचित उत्तेजित था।

“न सही। मैं आपसे पूछता हूँ, इंसाफ़ कीजिए आप। यह कौन-सा ज्ञान है कि एक जीव से इतनी नफ़रत की जाए। और... और खास अपनी लड़की और बहुओं से... पोते-पोतियों तक से नफ़रत की जाए... यह किस शास्त्र में लिखा है जनाब, बोलिए।” भोला की उत्तेजना ऐसे खुली, जैसे मोरी से डाट हटाते ही हौदी का पानी बहता है।

इंद्रदत्त ने शांत, दृढ़ स्वर में बात का उत्तर दिया, “तुम बात को गलत रंग दे रहे हो, भोला। इस प्रकार यह विकट, कहना चाहिए कि घरेलू समस्याएँ कभी हल नहीं हो जातीं।”

“मैं गलत रंग क्या दे रहा हूँ, जनाब? सच कहता हूँ और इंसाफ़ की बात कहता हूँ। ताली हमेशा दोनों हाथों से बजा करती है।”

"लेकिन तुम एक ही हाथ से ताली बजा रहे हो, यानी धरती पर हाथ पीट-पीटकर।"

"क्या? मैं समझा नहीं।"

"तुम अपने आप ही लड़ रहे हो और अपने को ही चोट पहुँचा रहे हो, भोला। फूफा जी के सब विचारों से सहमत होना ज़रूरी नहीं है। फिर भी वह आदर के पात्र हैं। वे हमारी पिछली पीढ़ी हैं, जिनकी प्रतिक्रियाओं पर क्रियाशील होकर हमारा विकास हो रहा है। उनकी खामियाँ तो तुम खूब देख लेते हो, देखनी भी चाहिए; मगर यह ध्यान रहे कि खूबियों की ओर से आँख मूँदना हमारे-तुम्हारे लिए, सारी नयी पीढ़ी के लिए केवल हानिप्रद है और कुछ नहीं।"

भोला ने अपनी जेब से सोने का सिगरेट-केस निकाला और चेहरे पर आड़ी तिरछी रेखाएँ डालकर कहने लगा, "मैं समझता था, भाई साहब, कि आपने इतनी हिस्ट्री-उस्ट्री पढ़कर बड़ी समझ पायी होगी।" इतना कहकर भोला के चेहरे पर संतोष और गर्व का भाव आ गया। प्रोफेसर इंद्रदत्त के पढ़े-लिखेपन को दो कौड़ी का साबित कर भोला सातवें आसमान की बुर्जी पर चढ़ गया, "ढकोसलों में ढकेलनेवाली ऐसी पिछली पीढ़ियों से हमारा देश और खासतौर से हमारी हिंदू सुसाइटी, बहुत 'सफर' कर चुकी, जनाब! अब चालीस बरस पहले का ज़माना भी नहीं रहा, जो 'पिताहि देवा पिताहि धर्मा' रटा-रटाकर

ये लोग अपनी धौंस गाँठ लें। मैं कहता हूँ, आप पुराने हैं, बड़े निष्ठावान हैं, होंगे... अपनी निष्ठा-विष्ठा को अपने पास रखिये। नया ज़माना आप लोगों की तानाशाही को भला क्यों बर्दाश्त करेगा!"

"तुम अगर किसी की तानाशाही को बर्दाश्त नहीं करोगे, तो तुम्हारी तानाशाही को ही भला कौन बर्दाश्त करेगा?"

"मैं क्या करता हूँ जनाब?"

"तुम अपने झूठे सुधारों का बोझ हरेक पर लादने के लिए उतावले क्यों रहते हो?"

"बतलाइये, मैंने ऐसा क्या किया है?"

"तुम फूफा जी को चिढ़ाते हो, भोला। मैं आज साफ़-साफ़ ही कहूँगा। तुम और त्रिभुवन, दोनों..." इंद्रदत्त ने सीधे स्वर में कहा।

"मैं यह सब बेवकूफ़ी की-सी बातें सुनने का आदी नहीं हूँ, भाई साहब! जनाब, हमको गोश्त अच्छा लगता है और हम खाते हैं और ज़रूर खायेंगे। देखें, आप हमारा क्या कर लेते हैं?"

"मैं आपका कुछ भी न कर लूँगा, भोलाशंकर जी। आप शौक से खाइये। मेरे ख्याल में फूफा जी ने भी इसका कोई विरोध नहीं किया। वह नहीं खाते, उनके संस्कार ऐसे नहीं हैं, तो तुम यह क्यों चाहते हो कि वह भी तुम्हारी बात, तुम्हारा मत मानने लगें? रहा यह कि उन्होंने अपना चौका अलग कर लिया या वह तुम लोगों के कारण क्षुब्ध हैं, वह बातें तानाशाही नहीं कही जा सकतीं। उन्हें बुरा लगता है, बस।"

"मैं पूछता हूँ, क्यों बुरा लगता है? मेरी भी बड़े-बड़े प्रोफेसरों और नामी आलिम-फाज़िलों से दिन-रात की सोहबत है। आपके वेद के ज़माने में भी तो खाते थे।" भोला ने गर्दन झटकाई, उनके चेहरे का माँस थुलथुला उठा, उनकी सिगरेट जल गई।

इंद्रदत्त बोले, "ठीक है, वे खाते थे। राम, कृष्ण, अर्जुन, इंद्र वगैरह भी खाते थे, पीते भी थे, मगर यह कहने से तुम उस संस्कार को धो तो नहीं सकते, जो समय के अनुसार परिवर्तित हुआ और वैष्णव धर्म के साथ करीब-करीब राष्ट्रव्यापी भी हो गया।"

"हाँ, तो फिर दूसरा संस्कार भी राष्ट्रव्यापी हो रहा है।"

"हो रहा है, ठीक है।"

"तो फिर दादा हमारा विरोध क्यों करते हैं?"

"भोला, हम फूफा जी का न्याय नहीं कर सकते। इसलिए नहीं कि हम अयोग्य हैं, वरन इसलिए कि हमारे न्याय के अनुसार चलने के लिए उनके पास अब दिन नहीं रहे,

आदत बदलने के लिए आखिरी वक्त में अब उत्साह भी नहीं रहा।"

"मैं पूछता हूँ, क्यों नहीं रहा?"

"यह सरासर ज्यादती है तुम्हारी। अरे भाई, वह बीता युग है, उस पर हमारा वश नहीं। हमारा वश केवल वर्तमान और भविष्य पर ही हो सकता है। विगत युग की मान्यताओं को उस युग के लिए हमें जैसे-का-तैसा स्वीकार करना होगा। ...पहले बात सुन लो, फिर कुछ कहना... हाँ, तो मैं कह रहा था कि हमें अपने पुरखों की खूबियाँ देखनी चाहिए, ताकि हम उन्हें लेकर आगे बढ़ सकें। उनकी खामियों को या सीमाओं को समझना चाहिए, जिनसे कि हम आगे बढ़कर अपनी नयी सीमा स्थापित कर सकें। उनके ऊपर अपनी सुधारवादी मनोवृत्ति को लादना घोर तानाशाही है।"

"और वो जो करते हैं, वह तानाशाही नहीं है?"

"अगर तानाशाही है, तो तुम उसका ज़रूर विरोध करो। मगर नफ़रत से नहीं। वे तुम्हारे अत्यंत निकट के संबंधी हैं, तुम्हारे पिता हैं। इतनी श्रद्धा तुम्हें करनी ही होगी, उन्हें इतनी सहानुभूति तुम्हें देनी ही होगी।"

इंद्रदत्त बहुत शांत भाव से पालथी मारकर बैठे हुए बातें कर रहे थे।

भोला के चेहरे पर कभी चिढ़ और कभी लापरवाही भरी अकड़ के साथ सिगरेट का धुआँ लहराता था। इंद्रदत्त की बात सुन तमककर बोला, "अ...अ...आप चाहते हैं कि लोग गोश्त खाना छोड़ दें?"

"दोस्त, अच्छा होता कि तुम अगर यह माँस-मछली वगैरह के अपने शौक, कम-से-कम उनके और बुआ जी के जीवन-काल में घर से बाहर ही पूरे करते। यह चोरी के लिए नहीं, उनके लिहाज के लिए करते, तो परिवार में और भी शोभा बढ़ती। खैर, झगड़ा इस बात पर तो है नहीं। झगड़ा तो तुम्हारी..."

"जूलियट की वजह से है। वह उनके कमरे में जाती है, या अभी हाल ही में उसने सरस्वती जी के मंदिर में बच्चे पैदा किये... तो, तो आप एक बेजुबान जानवर से भी बदला लेंगे, जनाब? यह आपकी इंसानियत है?"

"मैं कहता हूँ, तुमने उसको पाला ही क्यों? कम-से-कम माँ-बाप का ज़रा-सा मान तो रखा होता।"

"इसमें मान रखने की क्या बात है, भाई साहब?" भोला उठकर छोटी-सी जगह से तेजी से अकड़ते हुए टहलने लगे। चारपाई से कमरे के एक कोने तक जाकर लौटते हुए रुककर कहा, "हमारा शौक है, हमने किया। और कोई बुरा शौक तो है नहीं। साहब, औरों

के फादर-मदर्स होते हैं, तो लड़कों के शौक पर खुश होते हैं... और एक हमारी किस्मत है कि...''

''तुम सिर्फ़ अपनी ही खुशी को देखते हो, भोला। तुमने यह नहीं देखा कि फूफा जी कितने धैर्य और संयम से तुम लोगों की इन हरकतों को सहन करते हैं।''

''खाक-धूल है... संयम है! हूँ! हज़ारों तो गालियाँ दे डालीं हम लोगों को!''

''और बदले में तुमने उनके ऊपर कुतिया छोड़ दी।''

''ऐसी ही बहुत शुद्धता का घमंड है, तो अपनी तरफ दीवार उठवा लें। हम जो-जो हमारे जी में आयेगा,करेंगे। और अब तो बढ़-चढ़कर करेंगे।''

''यह तो लड़ाई की बात हुई, समझौता नहीं हुआ।''

''जी, हाँ, हम तो खुले आम कहते हैं कि हमारा और दादा का समझौता नहीं हो सकता। इस मामले में मेरी और त्रिभुवन की राय एक है। अगर वे हमारे 'प्रोग्रेसिव' खयालात को नहीं देख सकते, तो उनके लिए हमारे घर में कोई जगह नहीं है।''

''भोला!'' बड़ी देर से गर्दन झुकाए खामोश बैठी हुई माँ ने काँपते स्वर में और भीख का-सा हाथ आगे बढ़ाते हुए कहा, ''बेटा, उनके आगे ऐसी बात भूल से भी न कह देना। तुम्हारे पैरों...''

''कहूँगा और हज़ार बार कहूँगा! अब तो हमारी-उनकी ठन गई। वो हमारे लड़कों-बच्चों का पहनना-ओढ़ना नहीं देख सकते, हँसना-खेलना नहीं बर्दाश्त कर सकते, हम लोगों को बर्दाश्त नहीं कर सकते, तो मैं उनके धर्म को ठोकर मारता हूँ। उनके ठाकुर, पोथी, पुराण सब मेरे जूते की नोक पर हैं।''

माँ की आँखों से बूँदें टपक पड़ीं। उन्होंने अपना सिर फिर झुका लिया। भोला की यह बदतमीजी इंद्रदत्त को बुरी तरह तड़पा रही थी। स्वर ठंडा रखने का प्रयत्न करते हुए भी सनक-भरी हँसी-हँसकर बोले, ''अगर तुम्हारी यही सब बातें नये और 'प्रोग्रेसिव' विचारों का प्रतिनिधित्व वाकई करती हों, इसी से मनुष्य सुशिक्षित और फैशनवाला माना जाता हो, तो मैं कहूँगा कि भोला, तुम और तुम्हारी ही तरह का सारा नया ज़माना जंगली है। बल्कि उनसे भी गया-गुज़रा है। तुम्हारा नया ज़माना न नया है, न पुराना। तुम्हारे विचार नये तो खैर हैं ही नहीं, अंग्रेज़ी दासता के अवशेष चिह्न हैं और तुम्हारी सभ्यता सामंतों, पैसेवालों के खोखले जोम से बढ़कर कुछ भी नहीं है। तुम्हारे विचार इंसानों के नहीं, हैवानों के हैं।'' इंद्रदत्त स्वाभाविक रूप से उत्तेजित हो उठे।

"खैर, आपको अपनी इंसानियत मुबारक रहे! हम हिपोक्रेट लोगों को खूब जानते हैं और उन्हें दूर ही से नमस्कार करते हैं।"

भोलाशंकर तमककर खड़े हुए, तेजी से बाहर चले, दरवाज़े पर पहुँचकर माँ से कहा, "तुम दादा को समझा देना, अम्मा। मैं अनशन की धमकियों से ज़रा भी नहीं डरूँगा। जान ही तो देंगे... तो मरें न। मगर मैं उनको अपने घर में यों नहीं मरने दूँगा। जायें गंगा किनारे मरें... यहाँ उनके लिए अब जगह नहीं है।"

"पर यह घर अकेला तुम लोगों का ही नहीं है।"

"खैर, यह तो हम कोर्ट में देख लेंगे, अगर ज़रूरत पड़ी तो। लेकिन मेरा अब उनसे कोई वास्ता नहीं रहा।"

भोलाशंकर चले गए। बुआ जी चुपचाप सिर झुकाए टप-टप आँसू बहाती रहीं। इंद्रदत्त उत्तेजित मुद्रा में बैठे थे। जिसके पास किसी भी वस्तु विशेष का अभाव रहा हो, उनके पास वह वस्तु थोड़ी-सी ही हो जाए, तो बहुत मालूम पड़ती है। इंद्रदत्त के लिए इतना क्रोध और उत्तेजना इसी तरह अधिक प्रतीत हो रही थी। पल-भर चुप रहकर आवेश में आ बुआ जी के हाथ पर हाथ रखते हुए कहा, "तुम और फूफा जी मेरे घर चलकर रहो, बुआ। वह भी तो तुम्हारा ही घर है।"

"तुम अपने फूफा जी से भोला की बातों का जिकर न करना, बेटा।"

"नहीं।"

"तुम अपने फूफा जी का किसी तरह से यह बरत तुड़वा दो बेटा, तुम्हें बड़ा पुन्न होगा। तुम्हें मेरी आत्मा उठते-बैठते असीसेगी, मेरा भैया।"

"मैं इसी इरादे से आया हूँ। तुम भी चलो, बुआ। तुम्हारा चेहरा कह रहा है कि तुम भी..."

"अरे, मेरी चिंता क्या है?"

"हाँ, तुम्हारी चिंता नहीं। चिंता तो तुम्हें और फूफा जी को करनी है... मेरी ओर से। तुम दोनों के भोजन कर लेने तक मैं भी अपने प्रण से अटल रहूँगा।"

बुआ जी एक क्षण चिंता में पड़ गईं फिर मीठी वाणी में समझाकर कहा, "देखो भैया इंदर, मेरे लिए जैसे भोला-तिरभुअन, वैसे तुम। जैसा ये घर, वैसा वो। आज तुम अपने फूफा जी को किसी तरह जिमा लो। उनके बरत टूटने की खबर सुनते ही, तुम्हारी कसम, मैं आप ही ठाकुरजी का भोग पा लूँगी। लेकिन इसी घर में। किसी के जी को कलेस हो,

बेटा, ऐसी बात नहीं करनी चाहिए। क्या कहूँ तेरे फूफा जी का करोध मेरी कुछ चलने नहीं देवे है। अपने जी को कलेस देवे हैं, सो देवे हैं, बाकी बच्चों के जी को जो कलेस लगै है, उसके लिए तो कहा ही क्या जाये? कलजुग कलजुग की तरै से चलैगा, भैया।"

इंद्रदत्त कुछ देर तक बुआ जी की घुटन का खुलना देखते रहे।

5

पंडित देवधर जी भट्ट ने नित्य-नियम के अनुसार झुटपुटे समय अपने भतीजे के आँगन में प्रवेश कर आवाज़ लगायी, "इंद्रदत्त।"

"आइये, फूफा जी।"

सँकरी, टूटी, सीलन-भरी लखौरी ईंटों पर खड़ाऊँ की खट-खट बढ़ती गई। इंद्रदत्त कठहरे के पास खड़े थे। जीने के दरवाज़े के बाहर आते हुए पंडित देवधर उन्हें दिखलायी दिये। उनके भस्म लगे कपाल और देह पर पड़े जै शिव छाप से दुपट्टे में उनकी देह से एक आभा-सी फूटती हुई उन्हें महसूस हो रही थी। फूफा जी के आते ही घर बदल गया। उन्हें देखकर हर रोज़ ऐसा ही महसूस होता है, पर आज की बात तो न्यारी ही थी। फूफा जी के चार दिनों का व्रत आज उनके व्यक्तित्व को इंद्रदत्त की दृष्टि में और भी अधिक तेजोमय बना रहा था। फूफा जी को लेकर आज उनका मन अत्यंत भावुक हो रहा था, पीड़ा पा रहा था। इंद्रदत्त ने अनुभव किया कि फूफा जी के चेहरे पर किसी प्रकार की उत्तेजना नहीं, भूख की थकन नहीं। चेहरा सूखा, कुछ उतरा हुआ था; परंतु मुख की चेष्टा नही बिगड़ी थी! पंडित देवधर की यह बात इंद्रदत्त को बहुत छू रही थी।

पंडित जी आकर चौकी पर बैठ गए। इंद्रदत्त उनके सामने मूढ़े पर बैठे। घर बनने के कारण उनका बैठका उजड़ गया था। अभ्यागत के आने पर इंद्रदत्त संकोच के साथ इसी टूटे कमरे में उसका स्वागत करते हैं। फूफा जी से तो खैर संकोच नहीं। पंखे का रुख उन्होंने उनकी ओर कर दिया और फिर बैठ गए। कुछ देर तक दोनों ओर से खामोशी रही, फिर फूफा जी ने बात उठायी, "तुम अभी घर गए थे, सुना।"

"जी, हाँ!"

"तुम्हारी बुआ मुझसे कह रही थीं। मैंने यह भी सुना है कि तुम मेरे कारण किसी प्रकार का बाल-हठ करने की धमकी भी दे आये हो।"

पंडित देवधर ने अपना दुपट्टा उतारकर चौकी पर रख दिया। पालथी मारकर वे सीधे तने हुए बैठे थे। उनका प्रायः पीला पड़ा हुआ गोरा बदन उनके बैठने के सधाव के कारण

ही 'स्पिरिचुअल' जँच रहा था, अन्यथा उनका यह पीलापन उनकी गोरी अवस्था का भी परिचय दे रहा था।

इंद्रदत्त ने सध-सधकर कहना शुरू किया, "मेरा हठ संपन्न नहीं, बड़ों के हठ में योगदान है।"

"इन बातों से कुछ लाभ नहीं, इंद्र। मेरी गति के लिए मेरे अपने नियम हैं।"

"और मेरे अपने नियम भी तो हो सकते हैं।"

"तुम्हें स्वाधीनता है।"

"तब मैंने भी यदि अनशन का फैसला किया है, तो गलत नहीं है।"

"तुम अपने प्रति मेरे स्नेह पर बोझ लाद रहे हो। मैं आत्म-शुद्धि के लिए व्रत कर रहा हूँ... पुरखों के साधना-गृह की जो यह दुर्गति हुई है, वह मेरे ही किसी पाप के कारण; अपने अंत:करण की गंगा से मुझे सरस्वती का मंदिर धोना ही पड़ेगा। तुम अपना आग्रह लौटा लो बेटा।"

एक मिनट के लिए कमरे में फिर सन्नाटा छा गया, केवल पंखे की गूँज ही उस खामोशी में लहरें उठा रही थी।

इंद्रदत्त ने शांत स्वर में कहा, "एक बात पूछूँ? मंदिर में कुत्ते के प्रवेश से यदि भगवती अपवित्र हो जाती हैं, तो फिर घट-घट व्यापी ईश्वर की भावना बिलकुल झूठी है, एक ईश्वर पवित्र और दूसरा अपवित्र क्यों माना जाए?"

पंडित देवधर चुप बैठे रहे। फिर गंभीर होकर कहा, "हिंदू धर्म बड़ा गूढ़ है। तुम इस झगड़े में न पड़ो।"

"मैं इस झगड़े में न पड़ूँगा फूफा जी, पर एक बात सोचता हूँ... भगवान राम अगर प्रेम के वश में होकर शबरी के झूठे बेर खा सकते थे, हिंदू लोग यदि इस अन्याय में विश्वास रखते हैं, तो फिर छूत-अछूत का कोई प्रश्न ही नहीं रह जाता। युधिष्ठिर ने अपने साथ-साथ चलने वाले कुत्ते के बिना स्वर्ग में जाने तक से इनकार कर दिया था। यह सब कहानियाँ क्या हिंदू धर्म की महिमा बखानने वाली नहीं हैं? क्या यह महत् भाव नहीं है? फिर इनके विपरीत छुआछूत के भय से छुई-मुई होनेवाले गूढ़ धर्म की महिमा को आप क्यों मानते हैं? इन रूढ़ियों से बँधकर मनुष्य क्या अपने को छोटा नहीं कर लेता?"

पंडित जी शांतिपूर्वक सुनते रहे। इंद्रदत्त को भय हुआ कि बुरा न मान गए हों। तुरंत बोले, "मैं किसी हद तक उत्तेजित ज़रूर हूँ, लेकिन जो कुछ पूछ रहा हूँ, जिज्ञासु के रूप में ही।"

"ठीक है।" पंडित जी बोले, "हमारे यहाँ आचार की बड़ी महिमा है! मनुस्मृति में आया है कि 'आचारः प्रथमोधर्मः'; जैसा आचार होगा, वैसे ही विचार भी होंगे। तुम शुद्धाचरण को बुरा मानते हो?"

"जी नहीं।"

"तब मेरा आचार क्यों भ्रष्ट करा रहे हो?"

"ऐसी धृष्टता करने का विचार स्वप्न में भी मेरे मन में नहीं आ सकता। हाँ, आपसे क्षमा माँगते हुए ज़रूर कहूँगा कि आपके आचार नये युग को विचार-शक्ति नहीं दे पा रहे। इसलिए उनका मूल्य मेरे लिए कुछ नहीं के बराबर है। मैं दुर्विनीत नहीं हूँ फूफा जी, परंतु सच-सच यह अनुभव करता हूँ कि दुनिया आगे बढ़ रही है और आपका दृष्टिकोण व्यर्थ के रोड़े की तरह उसकी गति को अटकाता है। ...पर इस समय जाने दीजिए... मैं तो यही निवेदन करने घर गया था और यही मेरा आग्रह है कि आप भोजन कर लें।"

पंडित जी मुस्कुराए। इंद्रदत्त के मन में आशा जागी। पंडित जी बोले, "करूँगा, एक शर्त पर।"

"आज्ञा कीजिए।"

"जो मेरे, अर्थात् पुरानी परिपाटी के यम, नियम, संयम आदि हैं, आज से तुम्हें भी निभाने पड़ेंगे, क्योंकि जिनका मूल्य तुम्हारी दृष्टि में कुछ नहीं, वे आचार-विचार मेरे लिए प्राणों से भी अधिक मूल्यवान हैं।"

इंद्रदत्त स्तंभित रह गए। वे कभी सोच भी नहीं सकते थे कि फूफा जी सहसा अनहोनी शर्त से उन्हें बाँधने का प्रयत्न करेंगे। पूछा, "कब तक निभाना पड़ेगा?"

"आजीवन।"

इंद्रदत्त किंकर्तव्यविमूढ़ हो गए। जिन नियमों में उनकी आस्था नहीं, जो चीज़ उनके विचारों के अनुसार मनुष्य को अंधविश्वास से जकड़ देती है और जो भारतीय संस्कृति का कलंक है, उनसे उनका प्रबुद्ध मन भला क्योंकर बँध सकता है? हाँ कहें, तो कैसे कहें? उन्होंने इस व्रत, नियम, बलिदान, चमत्कार और मिथ्या विश्वासों से भरे हुए हिंदू धर्म को समाज पर घोर अत्याचार करते देखा है। अपने आपको तरह-तरह से प्रपीड़ित कर धार्मिक कहलानेवाला व्यक्ति इस देश को रसातल में ले गया। इस कठोर जीवन को साधनेवाले 'शुद्धाचरणी' ब्राह्मण धर्म ने इस देश की स्त्रियों और हीन कहलानेवाली जातियों को सदियों तक दासता की चक्की में बुरी तरह पीसा है, और अब भी बहुत हद तक पीस रहा है। हो सकता है कि मनुष्य की चेतना के उगते युग में इस शुद्ध कहलाने वाले आचार

ने अंधकार में उन्नत विचारों की ज्योति जगायी हो, पर अब तो सदियों से इसी झूठे धर्म ने औसत भारतवासी को दास, अंधविश्वासी, और असीम रूप से अत्याचारों को सहन करनेवाला, झूठी दैवी शक्तियों पर यानी अपनी ही धोखा देनेवाली, लुभावनी, असंभव कल्पनाओं पर विश्वास करनेवाला, झूठा, भाग्यवादी बनाकर देश की कमर तोड़ रखी है। इसने औसत भारतवासी से आत्मविश्वास छीन लिया है। इस जड़ता के खिलाफ़ उपनिषद जागे, मानव-धर्म जागा, योग का ज्ञान जागा, बौद्ध, भागवत-धर्म जागा, मध्यकाल का संत आंदोलन उठा और आज के वैज्ञानिक युग ने तो इसे एकदम निस्सार सिद्ध कर सदा के लिए इसकी कब्र ही खोद दी है। यह जड़ धर्म कभी भारत को महान नहीं बना सका होगा। भारत की महानता उसके कर्मयोग में है, उसके व्यापक मानवीय दृष्टिकोण में है, व्यास-वाल्मीकि आदि के परम उदार भावों में है। प्राचीन भारत के दर्शन, न्याय, वैशेषिक, साहित्य, शिल्प, संगीत आदि इस जड़ धर्म की उपज हरगिज नहीं हो सकते। फिर भी यह जड़ता भारत पर अरसे से भूत की तरह छायी हुई है। इसी से घृणा करने के कारण आज का नया भारतीय बिना जाँच-पड़ताल किये, अपनी सारी परंपराओं से घृणा करते हुए, सिद्धांतहीन, आस्थाहीन और निष्क्रिय हो गया है। ...नहीं, वे फूफा जी का धर्म हरगिज न निभा सकेंगे, हरगिज नहीं, हरगिज नहीं! पर वे भोजन कैसे करेंगे? बुआ जी फिर कैसे और कब तक भोजन करेंगी? कैसी विडंबना है? दो मनुष्यों की मौत की नैतिक जिम्मेदारी उनके ऊपर आएगी।

पंडित देवधर ने उन्हें मौन देखकर पूछा, "कहो भोजन कराओगे मुझे?"

"जी... मैं धर्म-संकट में पड़ गया हूँ।"

"स्पष्ट कहो, मेरा धर्म ग्रहण करोगे?"

"फूफा जी, आप बहुत माँग रहे हैं। मेरा विश्वास माँग रहे हैं। मैं आपके धर्म को युग का धर्म नहीं मानता, अपना नहीं मानता।"

"मैं तुम्हारी स्पष्टवादिता से प्रसन्न हूँ। तुम धार्मिक हो, इसी तरह अपने से मुझको पहचानो। मैं अपना धर्म नहीं छोड़ सकता। यद्यपि तुम्हारे सत्संग से मैंने इतने दिनों में यह समझ लिया है कि मेरा युग, मेरा धर्म अब सदा के लिए लोप हो रहा है। फिर भी मेरी अंतिम साँस तक तो हरगिज नहीं। मेरी आस्था तपःपूत है। तुम्हारा कल्याण हो। सुखी हो, बेटा... अच्छा, तो अब मैं चलूँ..."

"परंतु मेरा अनशन का निश्चय अडिग है, फूफा जी। मैं आपके चरण छूकर कह रहा हूँ।"

“पैर छोड़ दो बेटे, इन पैरों में पहले ही जड़ता समा चुकी है... और अब तो जीव के साथ ही मिटेगी अन्यथा नहीं।... खैर, कल विचार करना अपने अनशन पर...”

अंतिम वाक्य पंडित जी ने इस तरह कहा कि इंद्रदत्त को करारा झटका लगा। पर वे मौन रहने पर विवश थे। पंडित देवधर चलने लगे। इंद्रदत्त के मन में भयंकर तूफ़ान उठ रहा था। वे हार गए। बुआ जी को क्या उत्तर देंगे? इस अगति का अंत क्या होगा? क्या वे फूफा जी की बात मान लें...? कैसे मान लें? यह ठीक है कि फूफा जी अपने धर्म पर किस प्रकार एकनिष्ठ हैं, यह एकनिष्ठता उन्हें बेहद प्रभावित करती है, फिर भी उनके धर्म को वह क्योंकर स्वीकार करें?

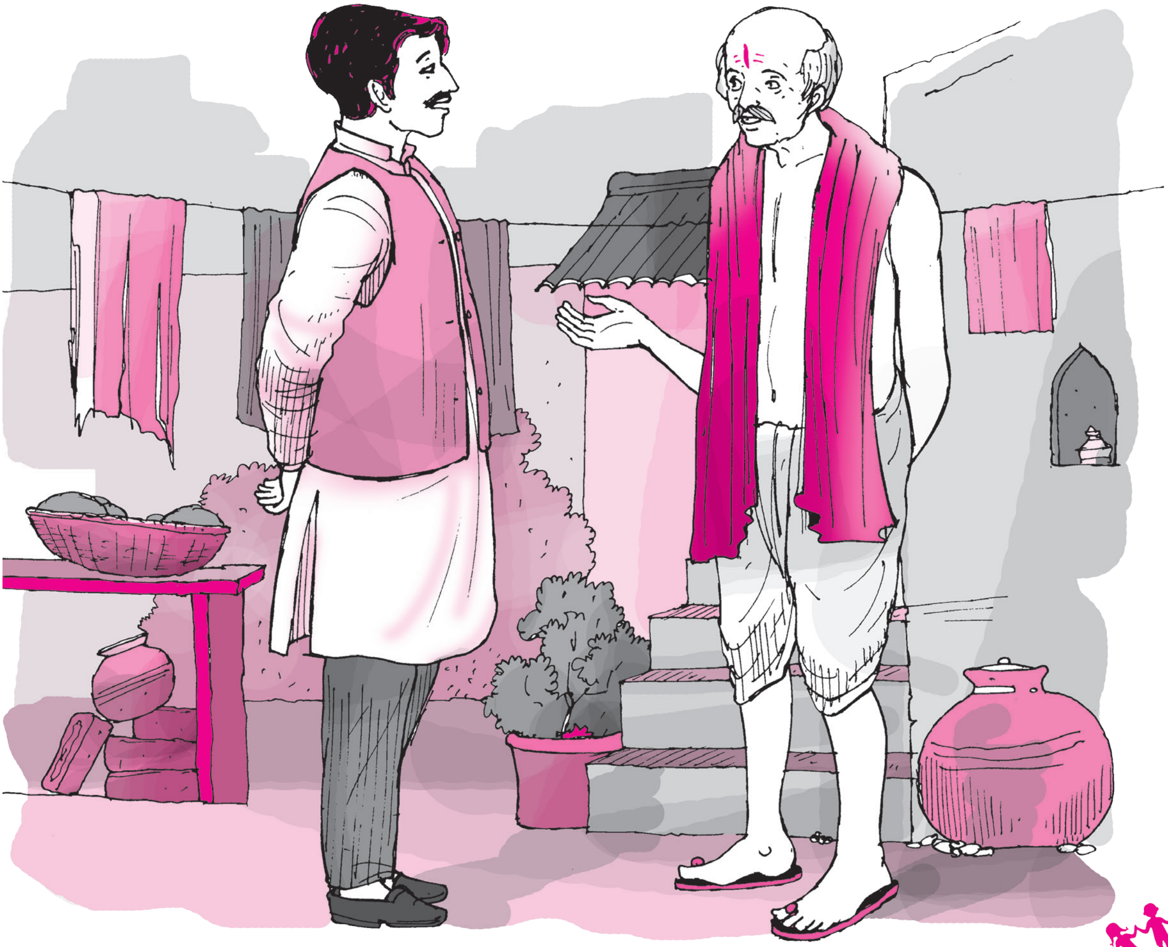

पंडित देवधर जी जीने पर पहुँचकर रुके। इंद्रदत्त उनके पीछे-पीछे चल रहे थे। पंडित जी घूमकर बोले, "तुम्हारी मान्यताओं में मेरी आस्था नहीं है इंद्र, फिर भी मैं उसके वास्तविक पक्ष को कुछ-कुछ देख अवश्य पा रहा हूँ। एक बात और स्पष्ट करना चाहता हूँ, क्या तुम भोला-त्रिभुवन के धर्म को आज का या किसी भी युग का वास्तविक धर्म मानते हो?"

"जी नहीं, उनका कोई धर्म ही नहीं है।"

"तुम्हारा कल्याण हो बेटे! धन-मद से जन्मे इस खोखले धर्म से सदा लड़ना, जैसे मैं लड़ा। तुम अपने मत के अनुसार लड़ो, पर लड़ो अवश्य। यह आस्थाहीन, दंभ-भरा अदार्शनिक, अधार्मिक जीवन लोक के लिए अकल्याणकारी है। बोलो, वचन देते हो?"

"मैं आपको अपना विश्वास देता हूँ।" कहकर इंद्रदत्त ने फूफाजी के चरण छू लिए।

खड़ाऊँ की खट्-खट् जीने से उतर गई, आँगन पार किया, दूर चले। इंद्रदत्त आकर कटे पड़े से अपने पलंग पर गिर गए। नया युग पुराने युग से स्वेच्छा से विदा हो रहा था, पर विदा होते समय कितना प्रबल मोह था और कितना निर्मम व्यवहार भी।

संवाद

1. क्या आपको आस-पास ऐसे बुज़ुर्ग मिले हैं, जो अपनी मान्यताओं में पंडित देवधर की तरह दृढ़ हैं?
2. फूफा जी के अनशन को तुड़वाने के लिए इंद्रदत्त ने जो किया, क्या वह ठीक है? विचार कीजिए।

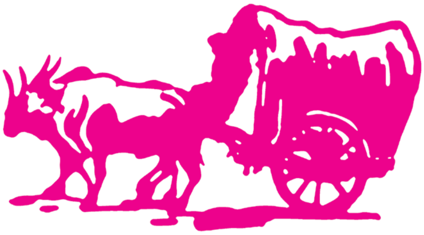

तीसरी कसम अर्थात मारे गए गुलफ़ाम

फणीश्वर नाथ 'रेणु'

'तीसरी कसम' कहानी फणीश्वर नाथ 'रेणु' की कालजयी रचना है। इस कहानी की मूल संवेदना प्रेम है। हिरामन एक बैलगाड़ी वाला है और अपनी बैलगाड़ी से नौटंकी में काम करने वाली नृत्यांगना हीराबाई को ले जाता है। कुछ घंटों के सफ़र में दोनों के हृदय में आत्मीय संबंध स्थापित हो जाता है, किंतु कहानी में कहीं भी पात्रों द्वारा इसकी स्वीकारोक्ति नहीं मिलती। यह कहानी सात दशक बाद भी पाठकों को उतना ही प्रभावित करती है, जितना कि अपने रचनाकाल के समय। दोनों पात्रों की विवशताएँ और उनके मध्य जीवन की आकांक्षा का द्वंद्व कहानी को अविस्मरणीय बनाता है।

हिरामन गाड़ीवान की पीठ में गुदगुदी लगती है...

पिछले बीस साल से गाड़ी हाँकता है हिरामन। बैलगाड़ी। सीमा के उस पार, मोरंग राज नेपाल से धान और लकड़ी ढो चुका है। कंट्रोल के ज़माने में चोरबाज़ारी का माल इस पार से उस पार पहुँचाया है। लेकिन कभी तो ऐसी गुदगुदी नहीं लगी पीठ में! कंट्रोल का ज़माना! हिरामन कभी भूल सकता है उस ज़माने को! एक बार चार खेप सीमेंट और कपड़े की गाँठों से भरी गाड़ी, जोगबनी से विराट नगर पहुँचाने के बाद हिरामन का कलेजा पोख्ता हो गया था। फारबिसगंज का हर चोर-व्यापारी उसको पक्का गाड़ीवान मानता। उसके बैलों की बड़ाई बड़ी गद्दी के बड़े सेठ जी खुद करते, अपनी भाषा में।

गाड़ी पकड़ी गई पाँचवीं बार, सीमा के इस पार तराई में।

महाजन का मुनीम उसी की गाड़ी पर गाँठों के बीच चुक्की-मुक्की लगाकर छिपा हुआ था। दारोगा साहब की डेढ़ हाथ लंबी चोरबत्ती की रोशनी कितनी तेज होती है, हिरामन जानता है। एक घंटे के लिए आदमी अंधा हो जाता है, एक छटक भी पड़ जाए आँखों पर! रोशनी के साथ कड़कती हुई आवाज़– "ऐ-य! गाड़ी रोको! साले, गोली मार देंगे!..."

बीसों गाड़ियाँ एक साथ कचकचाकर रुक गईं। हिरामन ने पहले ही कहा था "यह बीस विषावेगा!" दारोगा साहब उसकी गाड़ी में दुबके हुए मुनीम जी पर रोशनी डालकर पिशाची हँसी हँसे– "हा-हा-हा! मुँणीम जी ई-ई-ई! ही-ही-ही!...ऐ-य, साला गाड़ीवान, मुँह क्या देखता है रे-ए-ए! कंबल हटाओ इस बोरे के मुँह पर से!" हाथ की छोटी लाठी से मुनीम जी के पेट में खोंचा मारे हुए कहा था, "इस बोरे को! स-स्साला!..."

बहुत पुरानी अखज-अदाबत होगी दारोगा साहब और मुनीम जी में। नहीं तो उतना रुपया कबूलने पर भी पुलिस-दरोगा का मन न डोले भला! चार हज़ार तो गाड़ी पर बैठा-बैठा ही दे रहा था। लाठी से दूसरी बार खोंचा मारा दारोगा ने। "पाँच हज़ार!" फिर खोंचा– "उतरो पहले।..."

मुनीम को गाड़ी से नीचे उतारकर दारोगा ने उसकी आँखों पर रोशनी डाल दी। फिर दो सिपाहियों के साथ सड़क से बीस-पच्चीस रस्सी दूर झाड़ी के पास ले गए। गाड़ीवान और गाड़ियों पर पाँच-पाँच बंदूकवाले सिपाहियों का पहरा! हिरामन समझ गया, इस बार निस्तार नहीं। जेल? हिरामन को जेल का डर नहीं। लेकिन उसके बैल? न जाने कितने दिनों तक बिना चारा-पानी के सरकारी फाटक में पड़े रहेंगे— भूखे-प्यासे। फिर नीलाम हो जाएँगे। भैया और भौजी को वह मुँह नहीं दिखा सकेगा कभी। नीलाम की बोली उसके कानों के पास गूँज गई– एक-दो-तीन! दारोगा और मुनीम में बात पट नहीं रही थी शायद।

हिरामन की गाड़ी के पास तैनात सिपाही ने अपनी भाषा में दूसरे सिपाही से धीमी आवाज़ में पूछा, "का हो? मामला गोल होखी का?" फिर खैनी-तंबाकू देने के बहाने उस सिपाही के पास चला गया।...

एक-दो-तीन! तीन-चार गाड़ियों की आड़। हिरामन ने फैसला कर लिया। उसने धीरे-से अपने बैलों के गले की रस्सियाँ खोल लीं। गाड़ी पर बैठे-बैठे दोनों को जुड़वाँ बाँध दिया। बैल समझ गए उन्हें क्या करना है। हिरामन उतरा, जुती हुई गाड़ी में बाँस की टिकटी लगाकर बैलों के कंधों को बेलाग किया। दोनों के कानों के पास गुदगुदी लगा दी और मन-ही-मन बोला, "चलो भैयन, जान बचेगी तो ऐसी-ऐसी सग्गड़ गाड़ी बहुत मिलेगी।"...

एक-दो-तीन! नौ-दो-ग्यारह!...

गाड़ियों की आड़ में सड़क के किनारे दूर तक घनी झाड़ी फैली हुई थी। दम साधकर तीनों प्राणियों ने झाड़ी को पार किया— बेखटक, बे-आहट! फिर एक ले, दो ले– दुलकी चाल! दोनों बैल सीना तानकर फिर तराई के घने जंगलों में घुस गए। राह सूँघते, नदी-नाला पार करते हुए भागे पूँछ उठाकर। पीछे-पीछे हिरामन। रात-भर भागते रहे थे तीनों जन।...

घर पहुँचकर दो दिन तक बेसुध पड़ा रहा हिरामन। होश में आते ही उसने कान पकड़कर कसम खायी थी— अब कभी ऐसी चीज़ों की लदनी नहीं लादेंगे। चोर-बज़ारी का माल? तौबा, तौबा!...पता नहीं मुनीम जी का क्या हुआ! भगवान जाने उसकी सग्गड़ गाड़ी का क्या हुआ! असली इस्पात लोहे की धुरी थी। दोनों पहिये तो नहीं, एक पहिया एकदम नया था। गाड़ी में रंगीन डोरियों के फुँदने बड़े जतन से गूँथे गए थे।

दो कसमें खायी हैं उसने। एक, चोर-बज़ारी का माल नहीं लादेंगे; दूसरी, बाँस। अपने हर भाड़ेदार से वह पहले ही पूछ लेता है– "चोरी-चकारीवाली चीज़ तो नहीं?" और, बाँस? बाँस लादने के लिए पचास रुपये भी दे कोई, हिरामन की गाड़ी नहीं मिलेगी। दूसरे की गाड़ी देखे।

बाँस लदी हुई गाड़ी! गाड़ी से चार हाथ आगे बाँस का अगुआ निकला रहता है और पीछे की ओर चार हाथ पिछुआ। काबू के बाहर रहती है गाड़ी हमेशा। सो बेकाबूवाली लदनी और खरैहिया। शहरवाली बात! तिस पर बाँस का अगुआ पकड़कर चलनेवाला भाड़ेदार का महाभकुआ नौकर, लड़की-स्कूल की ओर देखने लगा। बस, मोड़ पर घोड़ागाड़ी से टक्कर हो गई। जब तक हिरामन बैलों की रस्सी खींचे, तब तक घोड़ागाड़ी की छतरी बाँस के अगुआ में फँस गई। घोड़ागाड़ीवाले ने तड़ातड़ चाबुक मारते हुए गाली दी थी!...

बाँस की लदनी ही नहीं, हिरामन ने खरैहिया शहर की लदनी भी छोड़ दी। और जब फारबिसगंज से मोरंग का भाड़ा ढोना शुरू किया तो गाड़ी ही पार!... कई वर्षों तक हिरामन ने बैलों को आधीदारी पर जोता। आधा भाड़ा गाड़ीवाले का और आधा बैलवाले का। हिस्स! गाड़ीवानी करो मुफ्त! आधीदारी की कमाई से बैलों के ही पेट नहीं भरते। पिछले साल ही उसने अपनी गाड़ी बनवायी है।

देवी मैया भला करें उस सरकस कंपनी के बाघ का। पिछले साल इसी मेले में बाघगाड़ी को ढोनेवाले दोनों घोड़े मर गए। चंपानगर से फारबिसगंज मेला आने के समय

सरकस कंपनी के मैनेजर ने गाड़ीवान-पट्टी में ऐलान करके कहा– "सौ रुपया भाड़ा मिलेगा!" एक-दो गाड़ीवान राज़ी हुए। लेकिन, उनके बैल बाघगाड़ी से दस हाथ दूर ही डर से डिकरने लगे– बाँ-आँ! रस्सी तुड़ाकर भागे। हिरामन ने अपने बैलों की पीठ सहलाते हुए कहा, "देखो भैयन, ऐसा मौका फिर हाथ न आयेगा। यही है मौका अपनी गाड़ी बनवाने का। नहीं तो फिर आधेदारी...। अरे, पिंजड़े में बंद बाघ का क्या डर? मोरंग की तराई में दहाड़ते हुए बाघों को देख चुके हो। फिर पीठ पर मैं तो हूँ।..."

गाड़ीवानों के दल में तालियाँ पटपटा उठी थीं एक साथ। सभी की लाज रख ली हिरामन के बैलों ने। हुमककर आगे बढ़ गए और बाघगाड़ी में जुट गए– एक-एक करके। सिर्फ़ दाहिने बैल ने जुतने के बाद ढेर-सा पेशाब। हिरामन ने दो दिन तक नाक से कपड़े की पट्टी नहीं खोली थी। बड़ी गद्दी के बड़े सेठ जी की तरह नकबंधन लगाए बिना बघाइन गंध बरदास्त नहीं कर सकता कोई।

...बाघगाड़ी की गाड़ीवानी की है हिरामन ने। कभी ऐसी गुदगुदी नहीं लगी पीठ में। आज रह-रहकर उसकी गाड़ी में चंपा का फूल महक उठता है। पीठ में गुदगुदी लगने पर वह अँगोछे से पीठ झाड़ लेता है।

हिरामन को लगता है, दो वर्ष से चंपानगर मेले की भगवती मैया उस पर प्रसन्न हैं। पिछले साल बाघगाड़ी जुट गई। नकद एक सौ रुपये भाड़े के अलावा बुताद, चाह-बिस्कुट और रास्ते-भर बंदर-भालू और जोकर का तमाशा देखा सो फोकट में!

और, इस बार यह जनानी सवारी। औरत है या चंपा का फूल! जब से गाड़ी मह-मह महक रही है। कच्ची सड़क के एक छोटे-से खड्ड में गाड़ी का दाहिना पहिया बेमौके हिचकोला खा गया।

हिरामन की गाड़ी से एक हल्की 'सिस' की आवाज़ आयी। हिरामन ने दाहिने बैल को दुआली से पीटते हुए कहा, "साला! क्या समझता है, बोरे की लदनी है क्या?"

"अहा! मारो मत!"

अनदेखी औरत की आवाज़ ने हिरामन को अचरज में डाल दिया। बच्चों की बोली जैसी महीन, फेनूगिलासी बोली!

मथुरामोहन नौटंकी कंपनी में लैला बननेवाली हीराबाई का नाम किसने नहीं सुना होगा भला! लेकिन हिरामन की बात निराली है। उसने सात साल तक लगातार मेलों की लदनी लादी है, कभी नौटंकी, थियेटर या बायस्कोप सिनेमा नहीं देखा। लैला या हीराबाई का नाम भी उसने नहीं सुना कभी। देखने की क्या बात! सो मेला टूटने के पंद्रह दिन पहले

आधी रात की बेला में काली ओढ़नी में लिपटी औरत को देखकर उसके मन में खटका अवश्य लगा था। बक्सा ढोनेवाले नौकर से गाड़ी-भाड़ा में मोल-मोलाई करने की कोशिश की, तो ओढ़नीवाली ने सिर हिलाकर मना कर दिया। हिरामन ने गाड़ी जोतते हुए नौकर से पूछा, "क्यों भैया, कोई चोरी-चकारी का माल-वाल तो नहीं?" हिरामन को फिर अचरज हुआ। बक्सा ढोनेवाले आदमी ने हाथ के इशारे से गाड़ी हाँकने को कहा और अँधेरे में गायब हो गया। हिरामन को मेले में तंबाकू बेचनेवाली बूढ़ी की काली साड़ी की याद आयी थी।

ऐसे में कोई क्या गाड़ी हाँके!

एक तो पीठ में गुदगुदी लग रही है। दूसरे रह-रहकर चंपा का फूल खिल जाता है उसकी गाड़ी में। बैलों को डाँटो तो 'इस-बिस' करने लगती है, उसकी सवारी। ...उसकी सवारी! औरत अकेली, तंबाकू बेचनेवाली बूढ़ी नहीं! आवाज़ सुनने के बाद वह बार-बार मुड़कर टप्पर में एक नज़र डाल देता है; अँगोछे से पीठ झाड़ता है। भगवान जाने क्या लिखा है इस बार उसकी किस्मत में! गाड़ी जब पूरब की ओर मुड़ी, एक टुकड़ा चाँदनी उसकी गाड़ी में समा गई। सवारी की नाक पर एक जुगनू जगमगा उठा। हिरामन को सब कुछ रहस्यमय अजगुत-अजगुत लग रहा है। सामने चंपानगर से सिंधिया गाँव तक फैला हुआ मैदान! ...कहीं डाकिन-पिशाचिन तो नहीं?

हिरामन की सवारी ने करवट ली। चाँदनी पूरे मुखड़े पर पड़ी तो हिरामन चीखते-चीखते रुक गया– "अरे बाप! ई तो परी है!"

परी की आँखें खुल गईं। हिरामन ने सामने सड़क की ओर मुँह कर लिया और बैलों को टिटकारी दी। वह जीभ को तालू से सटाकर टि-टि-टि-टि आवाज़ निकालता है। हिरामन की जीभ न जाने कब से सूखकर लकड़ी-जैसी हो गई थी!

"भैया, तुम्हारा नाम क्या है?"

हू-ब-हू फेनूगिलास! ...हिरामन के रोम-रोम बज उठे। मुँह से बोली नहीं निकली। उसके दोनों बैल भी कान खड़े करके इस बोली को परखते हैं।

"मेरा नाम! ...नाम मेरा है हिरामन!"

उसकी सवारी मुस्कुराती है। ...मुस्कुराहट में खुशबू है।

"तब तो मीता कहूँगी, भैया नहीं।– मेरा नाम भी हीरा है।"

"इस्स!" हिरामन को परतीत नहीं, मर्द और औरत के नाम में फ़र्क होता है।

"हाँ जी, मेरा नाम भी हीराबाई है।"

कहाँ हिरामन और कहाँ हीराबाई, बहुत फ़र्क है!

हिरामन ने अपने बैलों को झिड़की दी "कान चुनियाकर गप सुनने से ही तीस कोस मंजिल कटेगी क्या? इस बायें नाटे के पेट में शैतानी भरी है।" हिरामन ने बायें बैल को दुआली की हल्की झड़प दी।

"मारो मत; धीरे-धीरे चलने दो। जल्दी क्या है!"

हिरामन के सामने सवाल उपस्थित हुआ, वह क्या कहकर 'गप' करे हीराबाई से? 'तोह' कहे या 'अहाँ'? उसकी भाषा में बड़ों को 'अहाँ' अर्थात 'आप' कहकर संबोधित किया जाता है, कचराही बोली में दो-चार सवाल-जवाब चल सकता है, दिल-खोल गप तो गाँव की बोली में ही की जा सकती है किसी से।

आसिन-कातिक के भोर में छा जानेवाले कुहासे से हिरामन को पुरानी चिढ़ है। बहुत बार वह सड़क भूलकर भटक चुका है। किंतु आज के भोर के इस घने कुहासे में भी वह मगन है। नदी के किनारे धान-खेतों से फूले हुए धान के पौधों की पवनिया गंध आती है। पर्व-पावन के दिन गाँव में ऐसी ही सुगंध फैली रहती है। उसकी गाड़ी में फिर चंपा का फूल खिला। उस फूल में एक परी बैठी है। ...जै भगवती!

हिरामन ने आँख की कनखियों से देखा, उसकी सवारी... मीता... हीराबाई की आँखें गुजुर-गुजुर उसको हेर रही हैं। हिरामन के मन में कोई अजानी रागिनी बज उठी। सारी देह सिरसिरा रही है। वह बोला, "बैल को मारते हैं तो आपको बहुत बुरा लगता है?"
हीराबाई ने परख लिया, हिरामन सचमुच हीरा है।

चालीस साल का हट्टा-कट्टा, काला-कलूटा, देहाती नौजवान अपनी गाड़ी और अपने बैलों के सिवाय दुनिया की किसी और बात में विशेष दिलचस्पी नहीं लेता। घर में बड़ा भाई है, खेती करता है। बाल-बच्चेवाला आदमी है। हिरामन भाई से बढ़कर भाभी की इज्जत करता है। भाभी से डरता भी है। हिरामन की भी शादी हुई थी, बचपन में ही गौने के पहले दुलहिन मर गई। हिरामन को अपनी दुलहिन का चेहरा याद नहीं। ...दूसरी शादी? दूसरी शादी न करने के अनेक कारण हैं। भाभी की जिद्द, कुमारी लड़की से ही हिरामन की शादी करवायेगी। कुमारी का मतलब हुआ पाँच-सात साल की लड़की। कौन मानता है सरधा-कानून? कोई लड़कीवाला दोब्याहू को अपनी लड़की गरज में पड़ने पर ही दे सकता है। भाभी उसकी तीन-सत्त करके बैठी है, सो बैठी है। भाभी के आगे भैया की भी नहीं चलती! ...अब हिरामन ने तय कर लिया है, शादी नहीं करेगा। कौन बलाय मोल लेने जाए! ब्याह करके फिर गाड़ीवानी क्या करेगा कोई! और सब कुछ छूट जाए, गाड़ीवानी नहीं छोड़ सकता हिरामन।

हीराबाई ने हिरामन के जैसा निश्छल आदमी बहुत कम देखा है। पूछा, "आपका घर कौन जिल्ला में पड़ता है?" कानपुर नाम सुनते ही जो उसकी हँसी छूटी, तो बैल भड़क उठे। हिरामन हँसते समय सिर नीचा कर लेता है। हँसी बंद होने पर उसने कहा, "वाह रे कानपुर! तब तो नाकपुर भी होगा?" और जब हीराबाई ने कहा कि नाकपुर भी है, तो वह हँसते-हँसते दुहरा हो गया।

"वाह रे दुनिया! क्या-क्या नाम होता है! कानपुर, नाकपुर!" हिरामन ने हीराबाई के कान के फूल को गौर से देखा। नाक की नकछवि के नग देखकर सिहर उठा– लहू की बूँद!

हिरामन ने हीराबाई का नाम नहीं सुना कभी। नौटंकी कंपनी की औरत को वह बाईजी नहीं समझता है। ...कंपनी में काम करनेवाली औरतों को वह देख चुका है। सरकस कंपनी की मालकिन, अपनी दोनों जवान बेटियों के साथ बाघगाड़ी के पास आती थी, बाघ को चारा-पानी देती थी, प्यार भी करती थी खूब। हिरामन के बैलों को भी डबलरोटी-बिस्कुट खिलाया था बड़ी बेटी ने।

हिरामन होशियार है। कुहासा छँटते ही अपनी चादर से टप्पर में परदा कर दिया– "बस दो घंटा! उसके बाद रास्ता चलना मुश्किल है। कातिक की सुबह की धूप आप बरदास्त न कर सकियेगा। कजरी नदी के किनारे तेगछिया के पास गाड़ी लगा देंगे। दोपहरिया काटकर...।"

सामने से आती हुई गाड़ी को दूर से ही देखकर वह सतर्क हो गया। लीक और बैलों पर ध्यान लगाकर बैठ गया। राह काटते हुए गाड़ीवान ने पूछा, "मेला टूट रहा है क्या, भाई?"

हिरामन ने जवाब दिया, वह मेले की बात नहीं जानता। उसकी गाड़ी पर 'विदागी' (नैहर या ससुराल जाती हुई लड़की) है। न जाने किस गाँव का नाम बता दिया हिरामन ने!

"छत्तापुर-पचीरा कहाँ है?"

"कहीं हो, यह लेकर आप क्या करियेगा?" हिरामन अपनी चतुराई पर हँसा। परदा डाल देने पर भी पीठ में गुदगुदी लगती है।

हिरामन परदे के छेद से देखता है। हीराबाई एक दियासलाई की डिब्बी के बराबर आईने में अपने दाँत देख रही है। ...मदनपुर मेले में एक बार बैलों को नन्हीं-चित्ती कौड़ियों की माला खरीद दी थी हिरामन ने, छोटी-छोटी, नन्हीं-नन्हीं कौड़ियों की पाँत।

तेगछिया के तीनों पेड़ दूर से ही दिखलायी पड़ते हैं। हिरामन ने परदे को जरा सरकाते हुए कहा, देखिए, यही है तेगछिया। दो पेड़ जटामासी बड़ हैं और एक उस फूल का क्या नाम है, आपके कुरते पर जैसा फूल छपा हुआ है, वैसा ही, खूब महकता है, दो कोस दूर तक गंध जाती है, उस फूल को खमीरा तंबाकू में डालकर पीते भी हैं लोग।

"और उस अमराई की आड़ से कई मकान दिखायी पड़ते हैं, वहाँ कोई गाँव है या मंदिर?"

हिरामन ने बीड़ी सुलगाने के पहले पूछा, "बीड़ी पीएँ? आपको गंध तो नहीं लगेगी? ...वही है नामलगर ड्योढ़ी। जिस राजा के मेले से हम लोग आ रहे हैं, उसी का दियाद-गोतिया है। ...जा रे ज़माना!"

हिरामन ने 'जा रे ज़माना' कहकर बात को चाशनी में डाल दिया। हीराबाई ने टप्पर के परदे को तिरछे खोंस दिया। ...हीराबाई की दंतपंक्ति।

"कौन ज़माना?" ठुड्डी पर हाथ रखकर साग्रह बोली।

"नामलगर ड्योढ़ी का ज़माना! क्या था और क्या-से-क्या हो गया!"

हिरामन गप रसाने का भेद जानता है। हीराबाई बोली, "तुमने देखा था वह ज़माना?"

"देखा नहीं, सुना है। राज कैसे गया, बड़ी हैफवाली कहानी है। सुनते हैं, घर में देवता ने जन्म ले लिया। कहिए भला, देवता आखिर देवता है। है या नहीं? इंद्रासन छोड़कर मिरतूभुवन में जन्म ले ले, तो उसका तेज कैसे संभाल सकता है कोई! सूरजमुखी फूल की तरह माथे के पास तेज खिला रहता। लेकिन नज़र का फेर, किसी ने नहीं पहचाना। एक बार उपलैन में लाट साहब मय लाटनी के, हवागाड़ी से आए थे। लाट ने भी नहीं, पहचाना आखिर लाटनी ने। सूरजमुखी तेज देखते ही बोल उठी– ए मैन राजा साहब! सुनो, यह आदमी का बच्चा नहीं है, देवता है।"

हिरामन ने लोटनी की बोली की नकल उतारते समय खूब डैम-फैट-लैट किया। हीराबाई दिल खोलकर हँसी। ...हँसते समय उसकी सारी देह दुलकती है।

हीराबाई ने अपनी ओढ़नी ठीक कर ली। तब हिरामन को लगा कि... लगा कि...

"तब? उसके बाद क्या हुआ मीता?"

"इस्स! कथ्था सुनने का बड़ा शौक है आपको? ...लेकिन, काला आदमी, राजा क्या महाराजा भी हो जाये, रहेगा काला आदमी ही। साहेब के जैसा अक्किल कहाँ से पायेगा! हँसकर बात उड़ा दी सभी ने। तब रानी को बार-बार सपना देने लगा देवता! सेवा नहीं कर सकते तो जाने दो, नहीं रहेंगे तुम्हारे यहाँ। इसके बाद देवता का खेल शुरू हुआ। सबसे पहले दोनों दंतार हाथी मरे, फिर घोड़ा, फिर पटपटाँग...।"

"पटपटाँग क्या है?"

हिरामन का मन पल-पल में बदल रहा है। मन में सतरंगा छाता धीरे-धीरे खिल रहा है, उसको लगता है। ...उसकी गाड़ी पर देवकुल की औरत सवार है। देवता आखिर देवता है!

"पटपटाँग! धन-दौलत, माल-मवेशी सब साफ़! देवता इंद्रासन चला गया।"

हीराबाई ने ओझल होते हुए मंदिर के कँगूरे की ओर देखकर लंबी साँस ली।

"लेकिन देवता ने जाते-जाते कहा, इस राज में कभी एक छोड़कर दो बेटा नहीं होगा। धन हम अपने साथ ले जा रहे हैं, गुन छोड़ जाते हैं। देवता के साथ सभी देव-देवी चले गए, सिर्फ सरोसती मैया रह गई। उसका मंदिर है।"

देसी घोड़े पर पाट के बोझ लादे हुए बनियों को आते देखकर हिरामन ने टप्पर के परदे को गिरा दिया। बैलों को ललकारकर बिदेशिया नाच का वंदना गीत गाने लगा–

"जै मैया सरोसती, अरजी करत बानी;

हमरा पर होखू सहाई हे मैया, हमरा पर होखू सहाई!"

घोड़लद्दे बनियों से हिरामन ने हुलसकर पूछा, "क्या भाव पटुआ खरीदते हैं महाजन?"

लँगड़े घोड़ेवाले बनिये ने बटगमनी जवाब दिया– "नीचे सताइस-अठाइस, ऊपर तीस। जैसा माल, वैसा भाव।"

जवान बनिये ने पूछा, "मेला का क्या हाल-चाल है, भाई? कौन नौटंकी कंपनी का खेल हो रहा है, रौता कंपनी या मथुरामोहन?"

"मेले का हाल मेलावाला जाने!" हिरामन ने फिर छत्तापुर-पचीरा का नाम लिया।

सूरज दो बाँस ऊपर आ गया था। हिरामन अपने बैलों से बात करने लगा– "एक कोस ज़मीन! ज़रा दम बाँधकर चलो। प्यास की बेला हो गई न! याद है, उस बार तेगछिया के पास सरकस कंपनी के जोकर और बंदर नचाने वाले साहब में झगड़ा हो गया था। जोकड़वा ठीक बंदर की तरह दाँत किटकिटाकर किकियाने लगा था... न जाने किस-किस देश-मुलुक के आदमी आते हैं?"

हिरामन ने फिर परदे के छेद से देखा, हीराबाई एक कागज़ के टुकड़े पर आँख गड़ाकर बैठी है। हिरामन का मन आज हल्के सुर में बँधा है। उसको तरह-तरह के गीतों की याद आती है। बीस-पच्चीस साल पहले, बिदेशिया, बलवाही, छोकरा-नाच वाले एक-से-एक गजल-खेमटा गाते थे! अब तो, भोंपा में भोंपू-भोंपू करके कौन गीत गाते हैं लोग! जा रे ज़माना! छोकरा-नाच के गीत की याद आयी हिरामन को–

"सजनवा बैरी हो ग'य हमारो! सजनवा...!

अरे, चिठिया हो तो सब कोई बाँचे; चिठिया हो तो...

हाय! करमवा, होय करमवा...

कोई न बाँचे हमारो, सजनवा... हो करमवा...!"

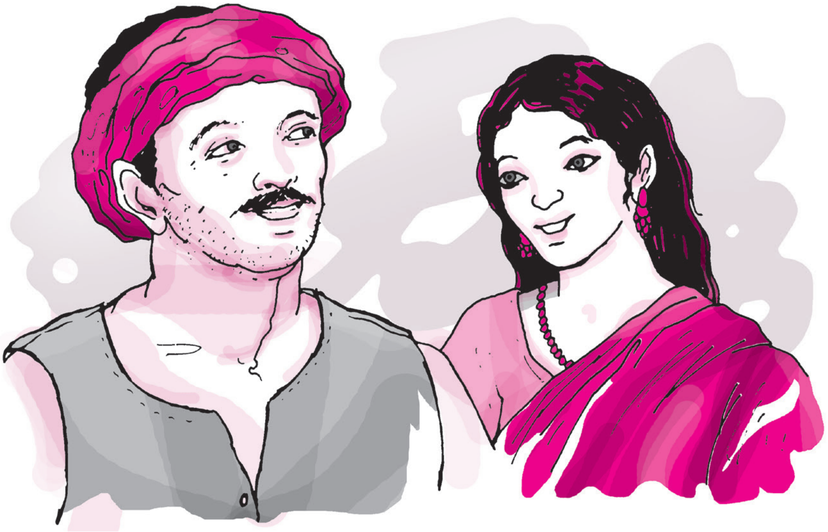

गाड़ी की बल्ली पर उँगलियों से ताल देकर गीत को काट दिया हिरामन ने। छोकरा-नाच के मनुवाँ नटुवा का मुँह हीराबाई-जैसा ही था। ...कहाँ चला गया वह ज़माना? हर महीने गाँव में नाचवाले आते थे। हिरामन ने छोकरा-नाच के चलते अपनी भाभी की न जाने कितनी बोली-ठोली सुनी थी। भाई ने घर से निकल जाने को कहा था।

आज हिरामन पर माँ सरस्वती सहाय हैं, लगता है। हीराबाई बोली, "वाह, कितना बढ़िया गाते हो तुम!"

हिरामन का मुँह लाल हो गया। वह सिर नीचा करके हँसने लगा।

आज तेगछिया पर रहने वाले महावीर स्वामी भी सहाय हैं हिरामन पर। तेगछिया के नीचे एक भी गाड़ी नहीं। हमेशा गाड़ी और गाड़ीवानों की भीड़ लगी रहती है यहाँ। सिर्फ़ एक साइकिलवाला बैठकर सुस्ता रहा है। महावीर स्वामी को सुमरकर हिरामन ने गाड़ी रोकी। हीराबाई परदा हटाने लगी। हिरामन ने पहली बार आँखों से बात की हीराबाई से–साइकिलवाला इधर ही टकटकी लगाकर देख रहा है।

बैलों के खोलने के पहले बाँस की टिकटी लगाकर गाड़ी को टिका दिया। फिर साइकिलवाले की ओर बार-बार घूरते हुए पूछा, "कहाँ जाना है? मेला? कहाँ से आना हो रहा है? बिसनपुर से? बस, इतनी ही दूर में थसथसाकर थक गए? ...जा रे जवानी!"

साइकिलवाला दुबला-पतला नौजवान मिनमिनाकर कुछ बोला और बीड़ी सुलगाकर उठ खड़ा हुआ।

हिरामन दुनिया-भर की निगाह से बचाकर रखना चाहता है हीराबाई को। उसने चारों ओर नज़र दौड़ाकर देख लिया– कहीं कोई गाड़ी या घोड़ा नहीं।

कजरी नदी की दुबली-पतली धारा तेगछिया के पास आकर पूरब की ओर मुड़ गई है। हीराबाई पानी में बैठी हुई भैंसों और उनकी पीठ पर बैठे हुए बगुलों को देखती रही।

हिरामन बोला, "जाइये, घाट पर मुँह-हाथ धो आइये!"

हीराबाई गाड़ी से नीचे उतरी। हिरामन का कलेजा धड़क उठा। ...नहीं, नहीं! पाँव सीधे हैं, टेढ़े नहीं। लेकिन, तलुवा इतना लाल क्यों है? हीराबाई घाट की ओर चली गई, गाँव की बहू-बेटी की तरह सिर नीचा करके धीरे-धीरे। कौन कहेगा कि कंपनी की औरत है। ...औरत नहीं, लड़की। शायद कुमारी ही है।

हिरामन टिकटी पर टिकी गाड़ी पर बैठ गया। उसने टप्पर में झाँककर देखा। एक बार इधर-उधर देखकर हीराबाई के तकिए पर हाथ रख दिया। फिर तकिए पर केहुनी डालकर झुक गया, झुकता गया। खुशबू उसकी देह में समा गई। तकिए के गिलाफ़ पर कढ़े फूलों को उँगलियों से छूकर उसने सूँघा, हाय रे हाय! इतनी सुगंध! हिरामन को लगा, एक साथ पाँच चिलम गाँजा फूँककर वह उठा है। हीराबाई के छोटे आईने में उसने अपना मुँह देखा।

आँखें उसकी इतनी लाल क्यों हैं?

हीराबाई लौटकर आयी तो उसने हँसकर कहा, “अब आप गाड़ी का पहरा दीजिये, मैं आता हूँ तुरंत।”

हिरामन ने अपनी सफरी झोली से सहेजी हुई गंजी निकाली। गमछा झाड़कर कंधे पर लिया और हाथ में बालटी लटकाकर चला। उसके बैलों ने बारी-बारी से ‘हँक-हँक’ करके कुछ कहा। हिरामन ने जाते-जाते उलटकर कहा, “हाँ, हाँ, प्यास सभी को लगी है। लौटकर आता हूँ तो घास दूँगा, बदमाशी मत करो!” बैलों ने कान हिलाये।

नहा-धोकर कब लौटा हिरामन, हीराबाई को नहीं मालूम। कजरी की धारा को देखते-देखते उसकी आँखों में रात की उचटी हुई नींद लौट आयी थी। हिरामन पास के गाँव से जलपान के लिए दही-चूड़ा-चीनी ले आया है।

“उठिये, नींद तोड़िये! दो मुट्ठी जलपान कर लीजिये!”

हीराबाई आँख खोलकर अचरज में पड़ गई। एक हाथ में मिट्टी के नये बरतन में दही, केले के पत्ते। दूसरे हाथ में बालटी-भर पानी। आँखों में आत्मीयतापूर्ण अनुरोध!

“इतनी चीज़ें कहाँ से ले आए?”

“इस गाँव का दही नामी है। ...चाह तो फारबिसगंज जाकर ही पाइयेगा।” हिरामन ने कहा।

हिरामन की देह की गुदगुदी मिट गई। हीराबाई ने कहा, “तुम भी पत्तल बिछाओ। ...क्यों? तुम नहीं खाओगे तो समेटकर रख लो अपनी झोली में। मैं भी नहीं खाऊँगी।”

“इस्स!” हिरामन लजाकर बोला, “अच्छी बात है! आप खा लीजिए पहले।”

“पहले-पीछे क्या? तुम भी बैठो।”

हिरामन का जी जुड़ा गया। हीराबाई ने अपने हाथ से उसका पत्तल बिछा दिया, पानी छींट दिया, चूड़ा निकालकर दिया। इस्स! धन्न है, धन्न है! हिरामन ने देखा, भगवती मैया भोग लगा रही है। लाल होंठों पर गोरस का परस! ...पहाड़ी तोते को दूध-भात खाते देखा है?

दिन ढल गया।

टप्पर में सोयी हीराबाई और ज़मीन पर दरी बिछाकर सोये हिरामन की नींद एक ही साथ खुली। ...मेले की ओर जानेवाली गाड़ियाँ तेगछिया के पास रुकी हैं। बच्चे कचर-पचर कर रहे हैं।

हिरामन हड़बड़ाकर उठा। टप्पर के अंदर झाँककर इशारे से कहा– दिन ढल गया! गाड़ी में बैलों को जोतते समय उसने गाड़ीवानों के सवालों का कोई जवाब नहीं दिया। गाड़ी हाँकते हुए बोला, "सिरपुर बज़ार के इसपिताल की डागडरनी हैं। रोगी देखने जा रही हैं। पास ही कुड़मागाम।"

हीराबाई छत्तापुर-पचीरा का नाम भूल गई। गाड़ी जब कुछ दूर आगे बढ़ आयी तो उसने हँसकर पूछा, "पत्तापुर-छपीरा?"

हँसते-हँसते पेट में बल पड़ गए हिरामन के– "पत्तापुर-छपीरा! हा-हा! वे लोग छत्तापुर-पचीरा के ही गाड़ीवान थे, उनसे कैसे कहता! ही-ही!"

हीराबाई मुस्कराती हुई गाँव की ओर देखने लगी।

सड़क तेगछिया गाँव के बीच से निकलती है। गाँव के बच्चों ने परदे वाली गाड़ी देखी और तालियाँ बजा-बजाकर रटी हुई पंक्तियाँ दुहराने लगे–

"लाली-लाली डोलिया में
लाली रे दुलहिनिया
पान खाये...!"

हिरामन हँसा। ...दुलहिनिया... लाली-लाली डोलिया! दुलहिनिया पान खाती है, दुलहा की पगड़ी में मुँह पोंछती है। ओ दुलहिनिया, तेगछिया गाँव के बच्चों को याद रखना। लौटती बेर गुड़ का लड्डू लेती आइयो। लाख बरिस तेरा दुलहा जीए... कितने दिनों का हौसला पूरा हुआ है हिरामन का! ऐसे कितने सपने देखे हैं उसने! वह अपनी दुलहिन को लेकर लौट रहा है। हर गाँव के बच्चे तालियाँ बजाकर गा रहे हैं। हर आँगन से झाँककर देख रही हैं औरतें। मर्द लोग पूछते हैं, "कहाँ की गाड़ी है, कहाँ जायेगी?" उसकी दुलहिन डोली का परदा थोड़ा सरकाकर देखती है और भी कितने सपने...

गाँव के बाहर निकलकर उसने कनखियों से टप्पर के अंदर देखा, हीराबाई कुछ सोच रही है। हिरामन भी किसी सोच में पड़ गया। थोड़ी देर के बाद वह गुनगुनाने लगा–

"सजन रे झूठ मत बोलो, खुदा के पास जाना है।
नहीं हाथी, नहीं घोड़ा, नहीं गाड़ी-
वहाँ पैदल ही जाना है। सजन रे...।"

हीराबाई ने पूछा, "क्यों मीता? तुम्हारी अपनी बोली में कोई गीत नहीं है क्या?"

हिरामन अब बेखटक हीराबाई की आँखों में आँखें डालकर बात करता है। कंपनी की औरत भी ऐसी होती है? सरकस कंपनी की मालकिन मेम थी। लेकिन हीराबाई!

गाँव की बोली में गीत सुनना चाहती है। वह खुलकर मुस्कराया– "गाँव की बोली आप समझियेगा?"

"हूँ-ऊँ-ऊँ !" हीराबाई ने गर्दन हिलायी। कान के झुमके हिल गए।

हिरामन कुछ देर तक बैलों को हाँकता रहा चुपचाप। फिर बोला, "गीत ज़रूर ही सुनियेगा? नहीं मानियेगा? ...इस्स! इतना शौक गाँव का गीत सुनने का है आपको! तब लीक छोड़नी होगी। चालू रास्ते में कैसे गीत गा सकता है कोई!" हिरामन ने बायें बैल की रस्सी खींचकर दाहिने को लीक से बाहर किया और बोला, "हरिपुर होकर नहीं जायेगे तब।"

चालू लीक को काटते देखकर हिरामन की गाड़ी के पीछेवाले गाड़ीवान ने चिल्लाकर पूछा, "काहे हो गाड़ीवान, लीक छोड़कर बेलीक कहाँ उधर?"

हिरामन ने हवा में दुआली घुमाते हुए जवाब दिया– "कहाँ है बेलीक? वह सड़क ननपुर तो नहीं जायेगी।" फिर अपने-आप बड़बड़ाया, "इस मुलुक के लोगों की यही आदत बुरी है। राह चलते एक सौ जिरह करेंगे। अरे भाई, तुमको जाना है, जाओ। ...देहाती भुच्च सब!"

ननपुर की सड़क पर गाड़ी लाकर हिरामन ने बैलों की रस्सी ढीली कर दी। बैलों ने दुलकी चाल छोड़कर कदमचाल पकड़ी।

हीराबाई ने देखा, सचमुच ननपुर की सड़क बड़ी सूनी है। हिरामन उसकी आँखों की बोली समझता है– "घबराने की बात नहीं। यह सड़क भी फारबिसगंज जायेगी, राह-घाट के लोग बहुत अच्छे हैं... एक घड़ी रात तक हम लोग पहुँच जायेंगे।"

हीराबाई को फारबिसगंज पहुँचने की जल्दी नहीं। हिरामन पर उसको इतना भरोसा हो गया है कि डर-भय की कोई बात ही नहीं उठती है मन में। हिरामन ने पहले जी-भर मुस्कुरा लिया। कौन गीत गाये वह! हीराबाई को गीत और कथा दोनों का शौक है... इस्स! महुआ घटवारिन? वह बोला, "अच्छा, जब आपको इतना शौक है तो सुनिये महुआ घटवारिन का गीत। इसमें गीत भी है, कथ्था भी है।"

...कितने दिनों के बाद भगवती ने यह हौसला भी पूरा कर दिया। जै भगवती! आज हिरामन अपने मन को खलास कर लेगा। वह हीराबाई की थमी हुई मुस्कुराहट को देखता रहा।

"सुनिये! आज भी परमार नदी में महुआ घटवारिन के कई पुराने घाट हैं। इसी मुलुक की थी महुआ! थी तो घटवारिन, लेकिन सौ सतवंती में एक थी। उसका बाप दारू-ताड़ी पीकर दिन-रात बेहोश पड़ा रहता। उसकी सौतेली माँ साक्षात राकसनी! बहुत

बड़ी नज़र-चालक। रात में गाँजा-दारू-अफ़ीम चुराकर बेचनेवाले से लेकर तरह-तरह के लोगों से उसकी जान-पहचान थी। सबसे घुट्टी-भर हेल-मेल। महुआ कुमारी थी। लेकिन काम कराते-कराते उसकी हड्डी निकाल दी थी राकसनी ने। जवान हो गई, कहीं शादी-ब्याह की बात भी नहीं चलायी। एक रात की बात सुनिये!"

हिरामन ने धीरे-धीरे गुनगुनाकर गला साफ़ किया–

"हे अ-अ-अ सावना-भादवा के-र-उमड़ल नदिया –गे-मै-यो-ओ-ओ,
मैयो गे रैनि भयावनि-हे-ए-ए-ए;
तड़का-तड़के धड़के करेज-आ-आ मोरा,
कि हमहुँ जे बार-नान्ही रे-ए-ए ...।"

ओ माँ, सावन-भादों की उमड़ी हुई नदी, भयावनी रात, बिजली कड़कती है, मैं बारी-कुमारी नन्ही-बच्ची, मेरा कलेजा धड़कता है। अकेली कैसे जाऊँ घाट पर? सो भी एक परदेशी राही-बटोही के पैर में तेल लगाने के लिए! सत-माँ ने अपनी बज्जर-किवाड़ी बंद कर ली। आसमान में मेघ हड़बड़ा उठे और हरहराकर बरसा होने लगी। महुआ रोने लगी, अपनी माँ को याद करके। आज उसकी माँ रहती तो ऐसे दुरदिन में कलेजे से सटाकर रखती अपनी महुआ बेटी को। गे मइया, इसी दिन के लिए, यही दिखाने के लिए तुमने कोख में रखा था? महुआ अपनी माँ पर गुस्सायी– क्यों वह अकेली मर गई, जी-भर कोसती हुई बोली।

हिरामन ने लक्ष्य किया, हीराबाई तकिये पर केहुनी गड़ाकर, गीत में मगन एकटक उसकी ओर देख रही है। ...खोई हुई सूरत कैसी भोली लगती है!

हिरामन ने गले में कँपकँपी पैदा की–
"हूँ-ऊँ-ऊँ-रे डाइनियाँ मैयो मोरी-ई-ई,
नोनवा चटाई काहे नाहिं मारलि सौरी-घर-अ-अ।

एहि दिनवाँ खातिर छिनरो धिया
तेंहु पोसलि कि नेनू-दूध उगटन...।"

हिरामन ने दम लेते हुए पूछा, "भाखा भी समझती हैं कुछ या खाली गीत ही सुनती हैं?"

हीरा बोली, "समझती हूँ। उगटन माने उबटन— जो देह में लगाते हैं।"

हिरामन ने विस्मित होकर कहा, "इस्स!"...सो रोने-धोने से क्या होय! सौदागर ने पूरा दाम चुका दिया था महुआ का। बाल पकड़कर घसीटता हुआ नाव पर चढ़ा और माँझी को हुकुम दिया, नाव खोलो, पाल बाँधो! पाल वाली नाव पर वाली चिड़िया की तरह उड़ चली। रात-भर महुआ रोती-छटपटाती रही। सौदागर के नौकरों ने बहुत डराया-धमकाया– 'चुप रहो, नहीं तो उठाकर पानी में फेंक देंगे।' बस, महुआ को बात सूझ गई। भोर का तारा मेघ की आड़ से ज़रा बाहर आया, फिर छिप गया। इधर महुआ भी छपाक से कूद पड़ी पानी में। ...सौदागर का एक नौकर महुआ को देखते ही मोहित हो गया था। महुआ की पीठ पर वह भी कूदा। उलटी धारा में तैरना खेल नहीं, सो भी भरी भादों की नदी में। महुआ असल घटवारिन की बेटी थी। मछली भी भला थकती है पानी में! सफरी मछली जैसी फरफराती, पानी चीरती भागी चली जा रही है। और उसके पीछे सौदागर का नौकर पुकार-पुकारकर कहता है– 'महुआ ज़रा थमो, तुमको पकड़ने नहीं आ रहा, तुम्हारा साथी हूँ। ज़िंदगी-भर साथ रहेंगे हम लोग।' लेकिन...।

हिरामन का बहुत प्रिय गीत है यह। महुआ घटवारिन गाते समय उसके सामने सावन-भादों की नदी उमड़ने लगती है; अमावस्या की रात और घने बादलों में रह-रहकर बिजली चमक उठती है। उसी चमक में लहरों से लड़ती हुई बारी-कुमारी महुआ की झलक उसे मिल जाती है। सफरी मछली की चाल और तेज हो जाती है। उसको लगता है, वह खुद सौदागर का नौकर है। महुआ कोई बात नहीं सुनती। परतीत करती नहीं। उलटकर देखती भी नहीं। और वह थक गया है, तैरते-तैरते।...

इस बार लगता है महुआ ने अपने को पकड़ा दिया। खुद ही पकड़ में आ गई है। उसने महुआ को छू लिया है, पा लिया है, उसकी थकन दूर हो गई है। पंद्रह-बीस साल तक उमड़ी हुई नदी की उलटी धारा में तैरते हुए उसके मन को किनारा मिल गया। आनंद के आँसू कोई रोक नहीं मानते।...

उसने हीराबाई से अपनी गीली आँखें चुराने की कोशिश की। किंतु हीरा तो उसके मन में बैठी न जाने कब से सब कुछ देख रही थी। हिरामन ने अपनी काँपती हुई बोली को काबू में लाकर बैलों को झिड़की दी– "इस गीत में न जाने क्या है कि सुनते ही दोनों थसथसा जाते हैं। लगता है सौ मन बोझ लाद दिया किसी ने।"

हीराबाई लंबी साँस लेती है। हिरामन के अंग-अंग में उमंग समा जाती है।

"तुम तो उस्ताद हो मीता!"

"इस्स!"

आसिन-कातिक का सूरज दो बाँस दिन रहते ही कुम्हला जाता है। सूरज डूबने से पहले ही ननपुर पहुँचना है, हिरामन अपने बैलों को समझा रहा है– "कदम खोलकर और कलेजा बाँधकर चलो... ए... छि:... छि: बढ़के भैयन! ले-ले-ले-ए-हे-य!"

ननपुर तक वह अपने बैलों को ललकारता रहा। हर ललकार के पहले वह अपने बैलों को बीती हुई बातों की याद दिलाता– याद नहीं, चौधरी की बेटी की बरात में कितनी गाड़िया थीं; सबको कैसे मात किया था! हाँ, वही कदम निकालो। ले-ले-ले! ननपुर से फारबिसगंज तीन कोस! दो घंटे और!

ननपुर के हाट पर आजकल चाय भी बिकने लगी है। हिरामन अपने लोटे में चाय भरकर ले आया। ...कंपनी की औरत को जानता है वह, सारा दिन, घड़ी-घड़ी-भर में, चाय पीती रहती है। चाय है या जान!

हीरा हँसते-हँसते लोट-पोट हो रही है– "अरे, तुमसे किसने कह दिया कि क्वाँरे आदमी को चाय नहीं पीनी चाहिए?"

हिरामन लजा गया। क्या बोले वह? ...लाज की बात। लेकिन वह भोग चुका है एक बार। सरकस कंपनी की मेम के हाथ की चाय पीकर उसने देख लिया है। बड़ी गरम तासीर!

"पीजिये गुरुजी!" हीरा हँसी।

"इस्स!"

ननपुर हाट पर ही दीया-बाती जल चुकी थी। हिरामन ने अपना सफरी लालटेन जलाकर पिछवा में लटका दिया। ...आजकल शहर से पाँच कोस दूर के गाँववाले भी

अपने को शहरू समझने लगे हैं। बिना रोशनी की गाड़ी को पकड़कर चालान कर देते हैं। बारह बखेड़ा।

"आप मुझे गुरुजी मत कहिये।"

"तुम मेरे उस्ताद हो। हमारे शास्तर में लिखा हुआ है, एक अच्छर सिखानेवाला भी गुरु और एक राग सिखानेवाला भी उस्ताद!"

"इस्स! शास्तर-पुरान भी जानती हैं! ...मैंने क्या सिखाया? मैं क्या...?"

हीरा हँसकर गुनगुनाने लगी– "हे-अ-अ-अ-सावना-भादवा के-र...।"

हिरामन अचरज के मारे गूँगा हो गया। ...इस्स! इतना तेज जेहन! हू-ब-हू महुआ घटवारिन!

गाड़ी सीताधार की एक सूखी धारा की उतराई पर गड़गड़ाकर नीचे की ओर उतरी। हीराबाई ने हिरामन का कंधा धर लिया एक हाथ से। बहुत देर तक हिरामन के कंधे पर उसकी उँगलियाँ पड़ी रहीं। हिरामन ने नज़र फिराकर कंधे पर केंद्रित करने की कोशिश की, कई बार। गाड़ी चढ़ाई पर पहुँची तो हीरा की ढीली उँगलियाँ फिर तन गईं।

सामने फारबिसगंज शहर की रोशनी झिलमिला रही है। शहर से कुछ दूर हटकर मेले की रोशनी... टप्पर में लटके लालटेन की रोशनी में छाया नाचती है आस-पास। ...डबडबाई आँखों से, हर रोशनी सूरजमुखी फूल की तरह दिखायी पड़ती है।

फारबिसगंज तो हिरामन का घर-दुआर है!

न जाने कितनी बार वह फारबिसगंज आया है। मेले की लदनी लादी है। किसी औरत के साथ? हाँ, एक बार। उसकी भाभी जिस साल आयी थी गौने में। इसी तरह तिरपाल से गाड़ी को चारों ओर से घेरकर बासा बनाया गया था।...

हिरामन अपनी गाड़ी को तिरपाल से घेर रहा है, गाड़ीवान-पट्टी में। सुबह होते ही रौता नौटंकी कंपनी के मैनेजर से बात करके भरती हो जाएगी हीराबाई। परसों मेला खुल रहा है। इस बार मेले में पालचट्टी खूब जमी है। ...बस, एक रात। आज रात-भर हिरामन की गाड़ी में रहेगी वह। ...हिरामन की गाड़ी में नहीं, घर में!

"कहाँ की गाड़ी है? ...कौन, हिरामन! किस मेले से? किस चीज़ की लदनी है?"

गाँव-समाज के गाड़ीवान, एक-दूसरे को खोजकर, आस-पास गाड़ी लगाकर बासा डालते हैं। अपने गाँव के लालमोहर, धुन्नीराम और पलटदास वगैरह गाड़ीवानों के दल को देखकर हिरामन अचकचा गया। उधर पलटदास टप्पर में झाँककर भड़का। मानो बाघ पर नज़र पड़ गई। हिरामन ने इशारे से सभी को चुप किया। फिर गाड़ी की ओर कनखी

मारकर फुसफुसाया– "चुप! कंपनी की औरत है, नौटंकी कंपनी की।"

"कंपनी की ई-ई-ई?"

"??...?? x x..!"

एक नहीं, अब चार हिरामन! चारों ने अचरज से एक-दूसरे को देखा। ...कंपनी नाम में कितना असर है! हिरामन ने लक्ष्य किया, तीनों एक साथ सटक-दम हो गए। लालमोहर ने ज़रा दूर हटकर बतियाने की इच्छा प्रकट की, इशारे से ही। हिरामन ने टप्पर की ओर मुँह करके कहा, "होटिल तो नहीं खुला होगा कोई, हलवाई के यहाँ से पक्की ले आवें!"

"हिरामन, ज़रा इधर सुनो। ...मैं कुछ नहीं खाऊँगी अभी। लो, तुम खा आओ।"

"क्या है, पैसा? इस्स!"...पैसा देकर हिरामन ने कभी फारबिसगंज में कच्ची-पक्की नहीं खायी। उसके गाँव के इतने गाड़ीवान हैं, किस दिन के लिए? वह छू नहीं सकता पैसा। उसने हीराबाई से कहा, "बेकार, मेला-बज़ार में हुज्जत मत कीजिये। पैसा रखिये।" मौका पाकर लालमोहर भी टप्पर के करीब आ गया। उसने सलाम करते हुए कहा, "चार आदमी के भात में दो आदमी खुशी से खा सकते हैं। बासा पर भात चढ़ा हुआ है। हें-हें-हें! हम लोग एकहि गाँव के हैं। गौंवाँ-गरामिन के रहते होटिल और हलवाई के यहाँ खायेगा हिरामन?"

हिरामन ने लालमोहर का हाथ टीप दिया– "बेसी भचर-भचर मत बको।"

गाड़ी से चार रस्सी दूर जाते-जाते धुन्नीराम ने अपने कुलबुलाते हुए दिल की बात खोल दी– "इस्स! तुम भी खूब हो हिरामन! उस साल कंपनी का बाघ, इस बार कंपनी की जनानी!"

हिरामन ने दबी आवाज़ में कहा, "भाई रे, यह हम लोगों के मुलुक की जनाना नहीं कि लटपट बोली सुनकर भी चुप रह जाए। एक तो पच्छिम की औरत, तिस पर कंपनी की!"

धुन्नीराम ने अपनी शंका प्रकट की– "लेकिन कंपनी में तो सुनते हैं पतुरिया रहती है।"

"धत्!" सभी ने एक साथ उसको दुरदुरा दिया, "कैसा आदमी है! पतुरिया रहेगी कंपनी में भला! देखो इसकी बुद्धि! ...सुना है, देखा तो नहीं है कभी!"

धुन्नीराम ने अपनी गलती मान ली। पलटदास को बात सूझी- "हिरामन भाई, जनाना जात अकेली रहेगी गाड़ी पर? कुछ भी हो, जानना आखिर जनाना ही है। कोई ज़रूरत ही पड़ जाए!"

यह बात सभी को अच्छी लगी। हिरामन ने कहा, "बात ठीक है। पलट, तुम लौट जाओ, गाड़ी के पास ही रहना। और देखो, गपशप ज़रा होशियारी से करना। हाँ!"

...हिरामन की देह से उतर-गुलाब की खुशबू निकलती है। हिरामन करमसाँड़ है। उस बार महीनों तक उसकी देह से बघाइन गंध नहीं गई। लालमोहर ने हिरामन की गमछी सूँघ ली– "ए-ह!"

हिरामन चलते-चलते रुक गया– "क्या करें लालमोहर भाई, ज़रा कहो तो! बड़ी जिद करती है, कहती है, नौटंकी देखना ही होगा।"

"फोकट में ही?"

"और गाँव नहीं पहुँचेगी यह बात?"

हिरामन बोला, "नहीं जी! एक रात नौटंकी देखकर ज़िंदगी-भर बोली-ठोली कौन सुने? ...देशी मुर्गी विलायती चाल!"

धुन्नीराम ने पूछा, "फोकट में देखने पर भी तुम्हारी भौजाई बात सुनायेगी?"

लालमोहर के बासा के बगल में, लकड़ी की दुकान लादकर आये हुए गाड़ीवानों का बासा है। बासा के मीर-गाड़ीवान मियाँजानू बूढ़े ने सफरी गुड़गुड़ी पीते हुए पूछा, "क्यों भाई, मीनाबज़ार की लदनी लादकर कौन आया है?"

मीनाबाज़ार! मीनाबाज़ार तो पतुरिया-पट्टी को कहते हैं। ...क्या बोलता है यह बूढ़ा मियाँ? लालमोहर ने हिरामन के कान में फुसफुसाकर कहा, "तुम्हारी देह मह-मह महकती है। सच।"

लहसनवाँ लालमोहर का नौकर गाड़ीवान है। उम्र में सबसे छोटा है। पहली बार आया है तो क्या? बाबू-बबुआइनों के यहाँ बचपन से नौकरी कर चुका है। वह रह-रहकर वातावरण में कुछ सूँघता है, नाक सिकोड़कर। हिरामन ने देखा, लहसनवाँ का चेहरा तमतमा गया है। ...कौन आ रहा है धड़धड़ाता हुआ?– "कौन, पलटदास? क्या है?"

पलटदास आकर खड़ा हो गया चुपचाप। उसका मुँह भी तमतमाया हुआ था। हिरामन ने पूछा, "क्या हुआ? बोलते क्यों नहीं?"

क्या जवाब दे पलटदास। हिरामन ने उसको चेतावनी दे दी थी, गपशप होशियारी से करना। वह चुपचाप गाड़ी की आसनी पर जाकर बैठ गया, हिरामन की जगह पर। हीराबाई ने पूछा, "तुम भी हिरामन के साथ हो?" पलटदास ने गरदन हिलाकर हामी भरी। हीराबाई फिर लेट गई। ...चेहरा-मोहरा और बोली-बानी देख-सुनकर, पलटदास का कलेजा काँपने लगा; न जाने क्यों। हाँ, रामलीला में सिया सुकुमारी इसी तरह थकी लेटी हुई थी। जै!

सियावर रामचंद्र की जै!... पलटदास के मन में जै-जैकार होने लगा। वह दास-बैस्नव है, कीर्तनिया है। थकी हुई सीता महारानी के चरण टीपने की इच्छा प्रकट की उसने, हाथ की उँगलियों के इशारे से; मानो हारमोनियम की पटरियों पर नचा रहा हो। हीराबाई तमककर बैठ गई– "अरे, पागल है क्या? जाओ, भागो!..."

पलटदास को लगा गुस्सायी हुई कंपनी की औरत की आँखों से चिंगारी निकल रही है– छटक-छटक! वह भागा।...

पलटदास क्या जवाब दे! वह मेला से भी भागने का उपाय सोच रहा है। बोला, "कुछ नहीं। हमको व्यापारी मिल गया। अभी ही टीशन जाकर माल लादना है। भात में तो अभी देर है। मैं लौट आता हूँ तब तक।"

खाते समय धन्नीराम और लहसनवाँ ने पलटदास की टोकरी-भर निंदा की। छोटा आदमी है। कमीना है। पैसे-पैसे का हिसाब जोड़ता है। खाने-पीने के बाद लालमोहर के दल ने अपना बासा तोड़ दिया। धुन्नी और लहसनवाँ गाड़ी जोतकर हिरामन के बासा पर चले, गाड़ी की लीक धरकर। हिरामन ने चलते-चलते रुककर, लालमोहर से कहा, "ज़रा मेरे इस कंधे को सूँघो तो। सूँघकर देखो न?"

लालमोहर ने कंधा सूँघकर आँखे मूँद लीं। मुँह से अस्फुट शब्द निकला "ए-ह!"

हिरामन ने कहा, "ज़रा-सा हाथ रखने पर इतनी खुशबू! ...समझे!"

लालमोहर ने हिरामन का हाथ पकड़ लिया– "कंधे पर हाथ रखा था? सच? सुनो हिरामन, नौटंकी देखने का ऐसा मौका फिर कभी हाथ नहीं लगेगा। हाँ!"

"तुम भी देखोगे?"

लालमोहर की बत्तीसी चौराहे की रोशनी में झिलमिला उठी।

बासा पर पहुँचकर हिरामन ने देखा, टप्पर के पास खड़ा बतिया रहा है कोई, हीराबाई से। धुन्नी और लहसनवाँ ने एक ही साथ कहा, "कहाँ रह गए पीछे? बहुत देर से खोज रही है कंपनी...!"

हिरामन ने टप्पर के पास जाकर देखा– अरे, यह तो वही बक्सा ढोनेवाला नौकर है, जो चंपानगर मेले में हीराबाई को गाड़ी पर बिठाकर अँधेरे में गायब हो गया था।

"आ गए हिरामन! अच्छी बात, इधर आओ। ...यह लो अपना भाड़ा और यह लो अपनी दच्छिना! पच्चीस-पच्चीस, पचास।"

हिरामन को लगा, किसी ने आसमान से धकेलकर धरती पर गिरा दिया। किसी ने क्यों, इस बक्सा ढोनेवाले आदमी ने। कहाँ से आ गया? उसकी जीभ पर आयी हुई बात जीभ पर ही रह गई... इस्स! दच्छिना! वह चुपचाप खड़ा रहा।

हीराबाई बोली, "लो, पकड़ो! और सुनो, कल सुबह रौता कंपनी में आकर मुझसे भेंट करना। पास बनवा दूँगी। ...बोलते क्यों नहीं?"

लालमोहर ने कहा, "इलाम-बकसीस दे रही है मालकिन, ले लो हिरामन!" हिरामन ने कटकर लालमोहर की ओर देखा। ...बोलने का ज़रा भी ढंग नहीं इस लालमोहरा को।

धुन्नीराम की स्वगतोक्ति सभी ने सुनी, हीराबाई ने भी– गाड़ी-बैल छोड़कर नौटंकी कैसे देख सकता है कोई गाड़ीवान, मेले में।

हिरामन ने रुपया लेते हुए कहा, "क्या बोलेंगे!" उसने हँसने की चेष्टा की। ...कंपनी की औरत कंपनी में जा रही है। हिरामन का क्या! बक्सा ढोनेवाला रास्ता दिखाता हुआ आगे बढ़ा– "इधर से।" हीराबाई जाते-जाते रुक गई। हिरामन के बैलों को संबोधित करके बोली, "अच्छा, मैं चली भैयन!"

बैलों ने, भैया शब्द पर कान हिलाए।

"??...?? x x...!"

"भा-इ-यो, आज रात! दि रौता संगीत नौटंकी कंपनी के स्टेज पर! गुलबदन देखिए, गुलबदन! आपको यह जानकर खुशी होगी कि मथुरामोहन कंपनी की मशहूर एक्ट्रेस मिस

हीरादेवी, जिसकी एक-एक अदा पर हज़ार जान फिदा हैं, इस बार हमारी कंपनी में आ गई हैं। याद रखिए। आज की रात। मिस हीराबाई गुलबदन...!"

नौटंकीवालों के इस ऐलान से मेले की हर पट्टी में सरगर्मी फैल रही है। ...हीराबाई? मिस हीराबाई? लैला, गुलबदन...? फिलिम एक्ट्रेस को मात करती है।

"...तेरी बाँकी अदा पर मैं खुद हूँ फ़िदा,
तेरी चाहत हो दिलबर बयाँ क्या करूँ!
यही खाहिश है कि इ-इ-इ तू मुझको देखा करे
और दिलोजान मैं तुमको देखा करूँ।"

...किर्र-र्र-र्र-र्र...कड़ड़डड़र्र-र-घन-घन-धड़ाम!

हर आदमी का दिल नगाड़ा हो गया है!

लालमोहर दौड़ता-हाँफता बासा पर आया- "ऐ, ऐ हिरामन, यहाँ क्या बैठे हो, चलकर देखो जै-जैकार हो रहा है! मय बाजा-गाजा, छापी-फाहरम के साथ हीराबाई की जै-जै कर रहा है।"

हिरामन हड़बड़ाकर उठा। लहसनवाँ ने कहा, "धुन्नी काका, तुम बासा पर रहो, मैं भी देख आऊँ।"

धुन्नी की बात कौन सुनता है! तीनों जन नौटंकी कंपनी की एलानिया पार्टी के पीछे-पीछे चलने लगे। हर नुक्कड़ पर रुककर, बाजा बंद करके एलान किया जाता है। एलान के हर शब्द पर हिरामन पुलक उठता है। हीराबाई का नाम, नाम के साथ अदा-फिदा वगैरह सुनकर उसने लालमोहर की पीठ थपथपा दी– "धन्न है, धन्न है! है या नहीं?"

लालमोहर ने कहा, "अब बोलो! अब भी नौटंकी नहीं देखोगे?" सुबह से ही धुन्नीराम और लालमोहर समझा रहे थे, समझाकर हार चुके थे– "कंपनी में जाकर भेंट कर आओ। जाते-जाते पुरसिस कर गई हैं।" लेकिन हिरामन की बस एक बात– "धत्त, कौन भेंट करने जाए! कंपनी की औरत, कंपनी में गई। अब उससे क्या लेना-देना! चीन्हेगी भी नहीं!"

वह मन-ही-मन रूठा हुआ था। ऐलान सुनने के बाद उसने लालमोहर से कहा, "ज़रूर देखना चाहिए, क्यों लालमोहर?"

दोनों आपस में सलाह करके रौता कंपनी की ओर चले। खेमे के पास पहुँचकर हिरामन ने लालमोहर को इशारा किया, पूछताछ करने का भार लालमोहर के सिर। लालमोहर कचराही बोलना जानता है। लालमोहर ने एक काले कोटवाले से कहा, "बाबू साहेब, ज़रा सुनिये तो!"

काले कोटवाले ने नाक-भौं चढ़ाकर कहा– "क्या है? इधर क्यों?"

लालमोहर की कचराही बोली गड़बड़ा गई– तेवर देकर बोला, "गुलगुल...नहीं-नहीं...बुल-बुल...नहीं।"

हिरामन ने झट-से सँभाल दिया– "हीरादेवी किधर रहती हैं, बता सकते हैं?"

उस आदमी की आँखें हठात् लाल हो गईं। सामने खड़े नेपाली सिपाही को पुकारकर कहा, "इन लोगों को क्यों आने दिया इधर?"

"हिरामन!"...वही फेनूगिलासी आवाज़ किधर से आयी? खेमे के परदे को हटाकर हीराबाई ने बुलाया– "यहाँ आ जाओ, अंदर! ...देखो, बहादुर! इसको पहचान लो। यह मेरा हिरामन है। समझे!"

नेपाली दरबान हिरामन की ओर देखकर ज़रा मुस्कुराया और चला गया। काले कोटवाले से जाकर कहा, "हीराबाई का आदमी है। नहीं रोकने बोला!"

लालमोहर पान ले आया नेपाली दरबान के लिए– "खाया जाए!"

"इस्स! एक नहीं, पाँच पास। चारों अठनिया! बोली कि जब तक मेले में हो, रोज़ रात में आकर देखना। सबका खयाल रखती है। बोली कि तुम्हारे और साथी हैं, सभी के लिए पास ले जाओ। कंपनी की औरतों की बात निराली होती है! है या नहीं?"

लालमोहर ने लाल कागज़ के टुकड़ों को छूकर देखा– "पा-स! वाह रे हिरामन भाई!... लेकिन पाँच पास लेकर क्या होगा? पलटदास तो फिर पलटकर आया ही नहीं है अभी तक।"

हिरामन ने कहा, "जाने दो अभागे को। तकदीर में लिखा नहीं। ...हाँ, पहले गुरुकसम खानी होगी सभी को, कि गाँव-घर में यह बात एक पंछी भी न जान पाये।"

लालमोहर ने उत्तेजित होकर कहा, "कौन साला बोलेगा गाँव में जाकर? पलटा ने अगर बदनामी की, तो दूसरी बार से फिर साथ नहीं लाऊँगा।"

हिरामन ने अपनी थैली आज हीराबाई के जिम्मे रख दी है। मेले का क्या ठिकाना! किस्म-किस्म के पॉकिटकाट लोग हर साल आते हैं। अपने साथी-संगियों का भी क्या भरोसा! हीराबाई मान गई। हिरामन के कपड़े की काली थैली को उसने अपने चमड़े के बक्से में बंद कर दिया। बक्से के ऊपर भी कपड़े का खोल और अंदर भी झलमल रेशमी अस्तर! मन का मान-अभिमान दूर हो गया।

लालमोहर और धुन्नीराम ने मिलकर हिरामन की बुद्धि की तारीफ़ की; उसके भाग्य

को सराहा बार-बार। इसके भाई और भाभी की निंदा की, दबी ज़बान से। हिरामन के जैसा हीरा भाई मिला है, इसीलिए! कोई दूसरा भाई होता तो...।

लहसनवाँ का मुँह लटका हुआ है। ऐलान सुनते-सुनते न जाने कहाँ चला गया कि घड़ी-भर साँझ होने के बाद लौटा है। लालमोहर ने एक मालिकाना झिड़की दी है, गाली के साथ– "सोहदा कहीं का!"

धुन्नीराम ने चूल्हे पर खिचड़ी चढ़ाते हुए कहा, "पहले यह फैसला कर लो कि गाड़ी के पास कौन रहेगा!"

"रहेगा कौन, यह लहसनवाँ कहाँ जायेगा?"

लहसनवाँ रो पड़ा– "हे-ए-ए मालिक, हाथ जोड़ते हैं। इक्को झलक! बस, एक झलक!"

हिरामन ने उदारतापूर्वक कहा, "अच्छा-अच्छा, एक झलक क्यों, एक घंटा देखना। मैं आ जाऊँगा।"

नौटंकी शुरू होने के दो घंटे पहले ही नगाड़ा बजना शुरू हो जाता है। और नगाड़ा शुरू होते ही लोग पतंगों की तरह टूटने लगते हैं। टिकटघर के पास भीड़ देखकर हिरामन को बड़ी हँसी आयी– "लालमोहर, उधर देख, कैसी धक्कमधुक्की कर रहे हैं लोग!"

"हिरामन भाय!"

"कौन, पलटदास! कहाँ की लदनी लाद आये?" लालमोहर ने पराये गाँव के आदमी की तरह पूछा।

पलटदास ने हाथ मलते हुए माफ़ी माँगी– "कसूरवार हैं, जो सज़ा दो तुम लोग, सब मंजूर है। लेकिन सच्ची बात कहें कि सिया सुकुमारी...।"

हिरामन के मन का पुरइन नगाड़े के ताल पर विकसित हो चुका है। बोला, "देखो पलटा, यह मत समझना कि गाँव-घर की जनाना है। देखो, तुम्हारे लिए भी पास दिया है; पास ले लो अपना, तमाशा देखो।"

लालमोहर ने कहा, "लेकिन एक शर्त पर पास मिलेगा। बीच-बीच में लहसनवाँ को भी...।"

पलटदास को कुछ बताने की ज़रूरत नहीं। वह लहसनवाँ से बातचीत कर आया है अभी।

लालमोहर ने दूसरी शर्त सामने रखी– “गाँव में अगर यह बात मालूम हुई किसी तरह...।”

“राम-राम!” दाँत से जीभ को काटते हुए कहा पलटदास ने।

पलटदास ने बताया– “अठनिया फाटक इधर है।” फाटक पर खड़े दरबान ने हाथ से पास लेकर उनके चेहरे को बारी-बारी से देखा। बोला, “यह तो पास है। कहाँ से मिला?”

अब लालमोहर की कचराही बोली सुने कोई! उसके तेवर देखकर दरबान घबरा गया– “मिलेगा कहाँ से? अपनी कंपनी से पूछ लीजिये जाकर। चार ही नहीं, देखिये एक और है।” जेब से पाँचवाँ पास निकालकर दिखाया लालमोहर ने।

एक रुपयावाले फाटक पर नेपाली दरबान खड़ा था। हिरामन ने पुकारकर कहा, “ए सिपाही दाजू, सुबह को ही पहचनवा दिया और अभी भूल गए?”

नेपाली दरबान बोला, “हीराबाई का आदमी है सब। जाने दो। पास है तो फिर काहे को रोकता है?”

अठनिया दर्जा!

तीनों ने ‘कपड़घर’ को अंदर से पहली बार देखा। सामने कुरसी-बेंचवाले दर्जे हैं। परदे पर राम-बन-गमन की तसवीर है। पलटदास पहचान गया। उसने हाथ जोड़कर नमस्कार किया, परदे पर अंकित रामसिया सुकुमारी और लखनलला को। “जै हो, जै हो!” पलटदास की आँखें भर आईं।

हिरामन ने कहा, “लालमोहर, छापी सभी खड़े हैं या चल रहे हैं?”

लालमोहर अपने बगल में बैठे दर्शकों से जान-पहचान कर चुका है। उसने कहा, “खेला अभी परदा के भीतर है। अभी जमनिका दे रहा है, लोग ज़माने के लिए।”

पलटदास ढोलक बजाना जानता है, इसलिए नगाड़े के ताल पर गरदन हिलाता है और दियासलाई पर ताल काटता है। बीड़ी आदान-प्रदान करके हिरामन ने भी एकाध जान-पहचान कर ली। लालमोहर के परिचित आदमी ने चादर से देह को ढकते हुए कहा, “नाच शुरू होने में अभी देर है, तब तक एक नींद ले लें। ...सब दर्जा से अच्छा अठनिया दर्जा। सबसे पीछे सबसे ऊँची जगह पर है। ज़मीन पर गरम पुआल! हें-हें कुरसी-बेंच पर बैठकर इस सरदी के मौसम में तमासा देखनेवाले अभी घुच-घुच कर उठेंगे चाह पीने।”

उस आदमी ने अपने संगी से कहा, “खेला शुरू होने पर जगा देना। नहीं-नहीं, खेला शुरू होने पर नहीं, हिरिया जब स्टेज पर उतरे, हमको जगा देना।”

हिरामन के कलेजे में ज़रा आँच लगी। ...बड़ा लटपटिया आदमी मालूम पड़ता है। उसने लालमोहर को आँख के इशारे से कहा, "इस आदमी से बतियाने की ज़रूरत नहीं।"

...घन-घन-घन-धड़ाम! परदा उठ गया। हे-ए, हे-ए, हीराबाई शुरू में ही उतर गई स्टेज पर! कपड़घर खचमखच भर गया है। हिरामन का मुँह अचरज से खुल गया। लालमोहर को न जाने क्यों ऐसी हँसी आ रही है। हीराबाई के गीत के हर पद पर वह हँसता है, बेवजह।

गुलबदन दरबार लगाकर बैठी है। ऐलान कर रही है: जो आदमी तख्तहज़ारा बनाकर ला देगा, मुँहमाँगी चीज़ इनाम में दी जाएगी। ...अजी, है कोई ऐसा फनकार, तो हो जाए तैयार, बनाकर लाए तख्तहज़ारा-आ! किड़किड़-किर्रि– ! अलबत्त नाचती है। क्या गला है!

हो-हल्ले के बीच, हिरामन की आवाज़ कपड़घर को फाड़ रही है– "आओ, एक-एक की गरदन उतार लेंगे।"

लालमोहर दुआली से पटापट पीटता जा रहा है सामने के लोगों को। पलटदास एक आदमी की छाती पर सवार है– "सिया सुकुमारी को गाली देता है?"

धुन्नीराम शुरू से ही चुप था। मारपीट शुरू होते ही कपड़घर से निकलकर बाहर भागा।

काले कोटवाले नौटंकी के मैनेजर नेपाली सिपाही के साथ दौड़े आए। दारोगा साहब ने हंटर से पीट-पाट शुरू की। हंटर खाकर लालमोहर तिलमिला उठा; कचराही बोली में भाषण देने लगा– "दारोगा साहब, मारते हैं, मारिए। कोई हर्ज नहीं। लेकिन यह पास देख

लीजिए, एक पास पॉकिट में भी है। देख सकते हैं हुजूर। टिकस नहीं, पास!...तब हम लोगों के सामने कंपनी की औरत को कोई बुरी बात कहे तो कैसे छोड़ देंगे?''

कंपनी के मैनेजर की समझ में आ गई सारी बात। उसने दारोगा को समझाया– ''हुजूर, मैं समझ गया। यह सारी बदमाशी मथुरामोहन कंपनीवालों की है। तमाशे में झगड़ा खड़ा करके कंपनी को बदनाम... नहीं हुज़ूर, इन लोगों को छोड़ दीजिए, हीराबाई के आदमी हैं। बेचारी की जान खतरे में है। हुज़ूर से कहा था न!''

हीराबाई का नाम सुनते ही दारोगा ने तीनों को छोड़ दिया। लेकिन तीनों की दुआली छीन ली गई। मैनेजर ने तीनों को एक रुपये वाले दरजे में कुरसी पर बिठाया– ''आप लोग यहीं बैठिए। पान भिजवा देता हूँ।'' कपड़घर शांत हुआ और हीराबाई स्टेज पर लौट आयी।

नगाड़ा फिर घनघना उठा।

थोड़ी देर बाद तीनों को एक साथ ही धुन्नीराम का खयाल हुआ– अरे, धुन्नीराम कहाँ गया?

''मालिक, ओ मालिक!'' लहसनवाँ कपड़घर के बाहर चिल्लाकर पुकार रहा है, ''ओ लालमोहर मा-लि-क!''

लालमोहर ने तारस्वर में जवाब दिया– ''इधर से, इधर से! एकटकिया फाटक से।'' सभी दर्शकों ने लालमोहर की ओर मुड़कर देखा। लहसनवाँ को नेपाली सिपाही लालमोहर के पास ले आया। लालमोहर ने जेब से पास निकालकर दिखा दिया। लहसनवाँ ने आते ही पूछा, ''मालिक, कौन आदमी क्या बोल रहा था? बोलिए तो ज़रा। चेहरा दिखला दीजिए, उसकी एक झलक!''

लोगों ने लहसनवाँ की चौड़ी और सपाट छाती देखी। जाड़े के मौसम में भी खाली देह! ...चेले-चाटी के साथ हैं ये लोग!

लालमोहर ने लहसनवाँ को शांत किया।

...तीनों-चारों से मत पूछे कोई, नौटंकी में क्या देखा। किस्सा कैसे याद रहे! हिरामन को लगता था, हीराबाई शुरू से ही उसी की ओर टकटकी लगाकर देख रही है, गा रही है, नाच रही है। लालमोहर को लगता था, हीराबाई उसी की ओर देखती है। वह समझ गई है, हिरामन से भी ज्यादा पावरवाला आदमी है लालमोहर! पलटदास किस्सा समझता है। ...किस्सा और क्या होगा, रमैन की ही बात है। वही राम, वही सीता, वही लखनलला और वही रावन! सिया सुकुमारी को रामजी से छीनने के लिए रावन तरह-तरह का रूप धरकर

आता है। राम और सीता भी रूप बदल लेते हैं। यहाँ भी तख्तहज़ारा बनानेवाला माली का बेटा राम है। गुलबदन सिया सुकुमारी है। माली के लड़के का दोस्त लखनलला है और सुलतान है रावन। ...धुन्नीराम को बुखार है तेज! लहसनवाँ को सबसे अच्छा जोकर का पार्ट लगा है ...चिरैया तोंहके लेके ना, जइवै नरहट के बजरिया! वह उस जोकर से दोस्ती लगाना चाहता है। ...नहीं लगावेगा दोस्ती, जोकर साहब?

हिरामन को एक गीत की आधी कड़ी हाथ लगी है– 'मारे गए गुलफ़ाम!' कौन था यह गुलफ़ाम! हीराबाई रोती हुई गा रही थी– "अजी हाँ, मारे गए गुलफ़ाम!" टिड़िड़िड़ि ...बेचारा गुलफ़ाम!

तीनों को दुआली वापस देते हुए पुलिस के सिपाही ने कहा, "लाठी-दुआली लेकर नाच देखने आते हो?"

दूसरे दिन मेले-भर में यह बात फैल गई– मथुरामोहन कंपनी से भागकर आयी है हीराबाई, इसलिए इस बार मथुरामोहन कंपनी नहीं आयी है। ...उसके गुंडे आए हैं। ...हीराबाई भी कम नहीं। बड़ी खेलाड़ औरत है। तेरह-तेरह देहाती लठैत पाल रही है। ...'वाह मेरी जान' भी कहे तो कोई! मजाल है!

दस दिन– दिन-रात!...

दिन-भर भाड़ा ढोता हिरामन। शाम होते ही नौटंकी का नगाड़ा बजने लगता। नगाड़े की आवाज़ सुनते ही हीराबाई की पुकार कानों के पास मँडराने लगती– भैया... मीता... हिरामन... उस्ताद... गुरुजी! हमेशा कोई-न-कोई बाजा उसके मन के कोने में बजता रहता, दिन-भर। कभी हारमोनियम, कभी नगाड़ा, कभी ढोलक और कभी हीराबाई की पैजनी। उन्हीं साजों की गत पर हिरामन उठता-बैठता, चलता-फिरता। नौटंकी कंपनी के मैनेजर से लेकर परदा खींचनेवाले तक उसको पहचानते हैं। ...हीराबाई का आदमी है।

पलटदास हर रात नौटंकी शुरू होने के समय श्रद्धापूर्वक स्टेज को नमस्कार करता, हाथ जोड़कर। लालमोहर, एक दिन अपनी कचराही बोली सुनाने गया था हीराबाई को। हीराबाई ने पहचाना ही नहीं। तब से उसका दिल छोटा हो गया है। उसका नौकर लहसनवाँ उसके हाथ से निकल गया है, नौटंकी कंपनी में भरती हो गया है। जोकर से उसकी दोस्ती हो गई है। दिन-भर पानी भरता है, कपड़े धोता है। कहता है गाँव में क्या है जो जाएँगे! लालमोहर उदास रहता है। धुन्नीराम घर चला गया है, बीमार होकर।

हिरामन आज सुबह से तीन बार लदनी लादकर स्टेशन आ चुका है। आज न जाने क्यों उसको अपनी भौजाई की याद आ रही है। ...धुन्नीराम ने कुछ कह तो नहीं दिया, बुखार की झोंक में! यहीं कितना अटर-पटर बक रहा था– गुलबदन, तख्तहज़ारा!... लहसनवाँ मौज में है। दिन-भर हीराबाई को देखता होगा। कल कह रहा था, हिरामन मालिक, तुम्हारे अकबाल से खूब मौज में हूँ। हीराबाई की साड़ी धोने के बाद कठौते का पानी अतरगुलाब हो जाता है। उसमें अपनी गमछी डुबाकर छोड़ देता हूँ! लो, सूँघोगे?... हर रात, किसी-न-किसी के मुँह से सुनता है वह– हीराबाई रंडी है। कितने लोगों से लड़े वह! बिना देखे ही लोग कैसे कोई बात बोलते हैं! राजा को भी लोग पीठ पीछे गाली देते हैं!... आज वह हीराबाई से मिलकर कहेगा, नौटंकी कंपनी में रहने से बहुत बदनाम करते हैं लोग। सरकस कंपनी में क्यों नहीं काम करती? ...सबके सामने नाचती है, हिरामन का कलेजा दप-दप जलता रहता है उस समय। सरकस कंपनी में बाघ को... उसके पास जाने की हिम्मत कौन करेगा! सुरक्षित रहेगी हीराबाई! किधर की गाड़ी आ रही है?

"हिरामन, ए हिरामन भाय!" लालमोहर की बोली सुनकर हिरामन ने गरदन मोड़कर देखा। ...क्या लादकर लाया है लालमोहर?

"तुमको ढूँढ़ रही है हीराबाई, इशटीशन पर। जा रही है।" एक ही साँस में सुना गया। लालमोहर की गाड़ी पर ही आयी है मेले से।

"जा रही है? कहाँ? हीराबाई रेलगाड़ी से जा रही है?"

हिरामन ने गाड़ी खोल दी। मालगुदाम के चौकीदार से कहा, "भैया, ज़रा गाड़ी-बैल देखते रहिए। आ रहे हैं।"

"उस्ताद!" जनाना मुसाफ़िरखाने के फाटक के पास हीराबाई ओढ़नी से मुँह-हाथ ढककर खड़ी थी। थैली बढ़ाती हुई बोली, "लो! हे भगवान! भेंट हो गई, चलो, मैं तो उम्मीद खो चुकी थी। तुमसे अब भेंट नहीं हो सकेगी। ...मैं जा रही हूँ गुरुजी!"

बक्सा ढोनेवाला आदमी आज कोट-पतलून पहनकर बाबूसाहब बन गया है। मालिकों की तरह कुलियों को हुक्म दे रहा है– "जनाना दर्जा में चढ़ाना। अच्छा?"

हिरामन हाथ में थैली लेकर चुपचाप खड़ा रहा। कुरते के अंदर से थैली निकालकर दी है हीराबाई ने। ...चिड़िया की देह की तरह गर्म है थैली।

"गाड़ी आ रही है।" बक्सा ढोनेवाले ने मुँह बनाते हुए हीराबाई की ओर देखा। उसके चेहरे का भाव स्पष्ट है– इतना ज्यादा क्या है...?

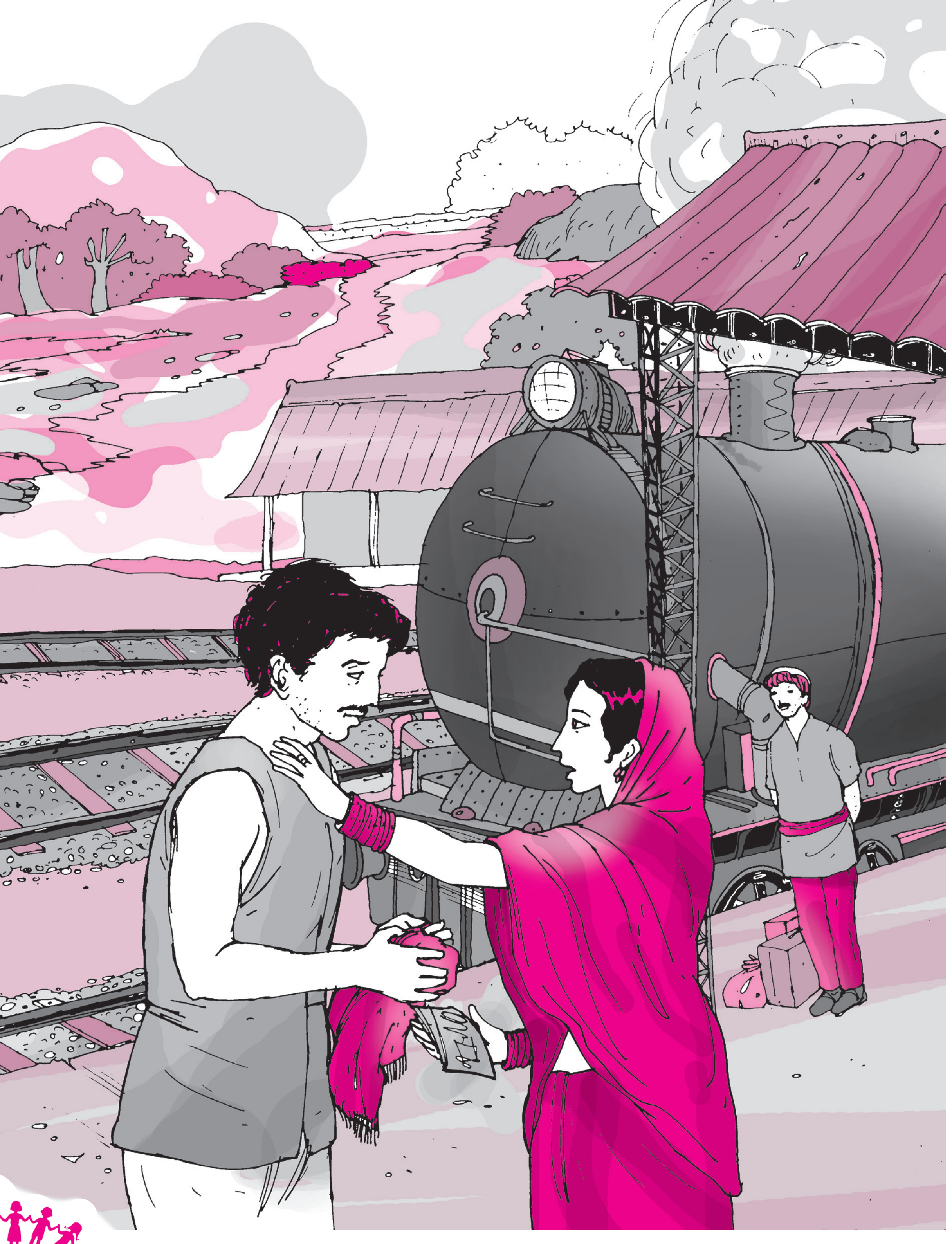

हीराबाई चंचल हो गई। बोली, "हिरामन, इधर आओ, अंदर। मैं फिर लौटकर जा रही हूँ मथुरामोहन कंपनी में। अपने देश की कंपनी है... बनैली मेला आओगे न?"

हीराबाई ने हिरामन के कंधे पर हाथ रखा... इस बार दाहिने कंधे पर। फिर अपनी थैली से रुपया निकालते हुए बोली, "एक गरम चादर खरीद लेना...।"

हिरामन की बोली फूटी, इतनी देर के बाद– "इस्स! हरदम रुपैया-पैसा! रखिये रुपैया! ...क्या करेंगे चादर?"

हीराबाई का हाथ रुक गया। उसने हिरामन के चेहरे को गौर से देखा। फिर बोली, "तुम्हारा जी बहुत छोटा हो गया है। क्यों मीता? ...महुआ घटवारिन को सौदागर ने खरीद जो लिया है गुरुजी!"

गला भर आया हीराबाई का। बक्सा ढोनेवाले ने बाहर से आवाज़ दी– "गाड़ी आ गई।" हिरामन कमरे से बाहर निकल आया। बक्सा ढोनेवाले ने नौटंकी के जोकर-जैसा मुँह बना कर कहा, "लाटफारम से बाहर भागो। बिना टिकट के पकड़ेगा तो तीन महीने की हवा...।"

हिरामन चुपचाप फाटक से बाहर जाकर खड़ा हो गया। ...टीशन की बात, रेलवे का राज! नहीं तो इस बक्सा ढोनेवाले का मुँह सीधा कर देता हिरामन।...

हीराबाई ठीक सामनेवाली कोठरी में चढ़ी। इस्स! इतना टान! गाड़ी में बैठकर भी हिरामन की ओर देख रही है, टुकुर-टुकुर। ...लालमोहर को देखकर जी जल उठता है, हमेशा पीछे-पीछे; हरदम हिस्सादारी सूझती है।

गाड़ी ने सीटी दी। हिरामन को लगा, उसके अंदर से कोई आवाज़ निकलकर सीटी के साथ ऊपर की ओर चली गई— कू-उ-उ-इ-स्स...!

...छि-ई-ई-छक्क! गाड़ी हिली। हिरामन ने अपने दाहिने पैर के अँगूठे को बायें पैर की एड़ी से कुचल लिया। कलेजे की धड़कन ठीक हो गई। ...हीराबाई हाथ की बैंगनी साफ़ी से चेहरा पोंछती है। साफ़ी हिलाकर इशारा करती है ...अब जाओ। ...आखिरी डब्बा गुज़रा; प्लेटफार्म खाली... सब खाली... खोखले... मालगाड़ी के डब्बे! दुनिया ही खाली हो गई मानो! हिरामन अपनी गाड़ी के पास लौट आया।

हिरामन ने लालमोहर से पूछा, "तुम कब तक लौट रहे हो गाँव?"

लालमोहर बोला, "अभी गाँव जाकर क्या करेंगे? यही तो भाड़ा कमाने का मौका है! हीराबाई चली गई, मेला अब टूटेगा।"

– "अच्छी बात। कोई समाद देना है घर?"

लालमोहर ने हिरामन को समझाने की कोशिश की। लेकिन हिरामन ने अपनी गाड़ी गाँव की ओर जानेवाली सड़क की ओर मोड़ दी। ...अब मेले में क्या धरा है! खोखला मेला!

रेलवे लाइन की बगल से बैलगाड़ी की कच्ची सड़क गई है दूर तक। हिरामन कभी रेल पर नहीं चढ़ा है। उसके मन में फिर पुरानी लालसा झाँकी— रेलगाड़ी पर सवार होकर, गीत गाते हुए जगरनाथ-धाम जाने की लालसा। ...उलटकर अपने खाली टप्पर की ओर देखने की हिम्मत नहीं होती है। पीठ में आज भी गुदगुदी लगती है। आज भी रह-रहकर चंपा का फूल खिल उठता है, उसकी गाड़ी में। एक गीत की टूटी कड़ी पर नगाड़े का ताल कट जाता है, बार-बार!...

उसने उलटकर देखा, बोरे भी नहीं, बाँस भी नहीं, बाघ भी नहीं... परी... देवी... मीता... हीरादेवी... महुआ घटवारिन– को-ई नहीं। मरे हुए मुहूर्तों की गूँगी आवाज़ें मुखर होना चाहती हैं। हिरामन के होंठ हिल रहे हैं। शायद वह तीसरी कसम खा रहा है– कंपनी की औरत की लदनी...।

हिरामन ने हठात् अपने दोनों बैलों को झिड़की दी, दुआली से मारते हुए बोला, “रेलवे लाइन की ओर उलट-उलटकर क्या देखते हो?” दोनों बैलों ने कदम खोलकर चाल पकड़ी। हिरामन गुनगुनाने लगा– “अजी हाँ, मारे गए गुलफ़ाम...!”

संवाद

1. क्या आपने किसी लोकगीत को सुना है? वह किस भाषा तथा बोली का है?
2. क्या आप किसी ग्रामीण अंचल से संबंध रखते हैं? वहाँ किस प्रकार का रहन-सहन है?

रोज़गार

मोहन राकेश

'मोहन राकेश' की कहानी 'रोज़गार' बड़ी बहन की कर्तव्यपूर्ण भावना से जुड़ी है। इसके मुख्य पात्र 'मिसेज एडवर्ड्स', 'जमशेद दारूवाला' और उसकी बहन है। अपने निकम्मे भाई के लिए मिसेज एडवर्ड्स ही समस्त प्रबंध करती है। भाई होटल में रहकर खर्च कर रहा है और बिल बहन भरती है। बहन के संबंध में प्रवाद है कि वह जीविकोपार्जन के लिए अनैतिक समझा जाने वाला काम करती है और भाई इस बात के लिए उसे कोसता भी है। संबंधों के खोखलेपन और स्वार्थ को दर्शाने वाली यह कहानी आधुनिक जीवन सभ्यता पर गहरा कटाक्ष है।

वह दुबली-सी लड़की साधना रेस्तरां के बाहर टैक्सी से उतरी और अंदर जाकर कोने की मेज़ के पास बैठ गई।

साधना रेस्तरां, निःसंदेह, किसी कवि-मस्तिष्क की उपज है। वहाँ के किवाड़ पुरानी आबनूस की लकड़ी के हैं जिनका निर्माण-काल सत्रहवीं शताब्दी है। अंदर खाने-बैठने की मेज़ों के पीछे बुक-स्टॉल है। दायीं तरफ एक प्लेटफ़ॉर्म है, जहाँ कोई बड़ी पार्टी हो तो डिनर की मेज़ें लगा दी जाती हैं, वरना चार-पाँच शतरंज की मेज़ें बिछी रहती हैं। सफेद बालों वाले कई बुज़ुर्ग वहाँ बैठे मोहरों की साधना में लीन रहते हैं। रेस्तरां में कोई ज़ोर से बात करे या कहकहा लगाए तो सहसा उन बुज़ुर्गों की भौंहें तन जाती हैं और चेहरे इस

तरह सिकुड़ जाते हैं, जैसे उन्हें सख्त चोट पहुँचाई गई हो। यूँ प्राय: रेस्तरां में सर्द खामोशी छायी रहती है और केवल छुरी-काँटों और मोहरों के चलने की आवाज़ ही सुनाई देती है। वहाँ बैठकर खेलनेवालों को मौन साधना का कुछ ऐसा अभ्यास है कि बाज़ी का अंतिम मोहरा चलते हुए वे मुँह से बात कर नहीं कहते।

वह लड़की मेज़ पर कुहनियाँ रखे, सीधी नज़र से प्लेटफ़ॉर्म की तरफ देखती रही। उसकी नज़र में एक जड़ता थी, जैसे उसके लिए काठ के मोहरों और उन्हें चलानेवाले हाथों में विशेष अंतर न हो। बैरा कॉफी और सैंडविच लाकर उसके सामने रख गया तो वह सैंडविच के ज़रा-ज़रा से टुकड़े दाँतों से काटकर धीरे-धीरे चबाने लगी— ऐसे, जैसे उस काम में काफ़ी मेहनत पड़ती हो। प्याली में कॉफी उड़ेलकर वह देर तक उसे चम्मच से हिलाती रही, फिर हल्के-हल्के घूँट भरने लगी। उसकी आँखें प्लेटफ़ॉर्म से हटतीं, तो दीवार पर स्थिर हो रहतीं। बीच-बीच में वह सतर्क नज़र से इधर-उधर देख लेती। कॉफी समाप्त करके उसने आँख के इशारे से बिल मँगवाया और सवा रुपया तश्तरी में डालकर उठ खड़ी हुई।

फुटपाथ पर आकर वह भटकी हुई मुद्रा में कुछ क्षण इधर-उधर देखती रही। रूखे-मुरझाए चेहरों का एक जुलूस फ्लोरा फाउंटेन की तरफ जा रहा था, दूसरा उस तरफ से आ रहा था। स्त्री और पुरूष के भेद से रहित प्राय: एक से चेहरे— हैट, कोट, फ्रॉक, स्कर्ट और कॉलर। बस पकड़नेवालों के लंबे-लंबे क्यू धीरे-धीरे आगे को सरक रहे थे। घंटियों की टन्-टन् और इंजनों की घबराहट के बीच कई-कई आकृतियाँ जल्दी-जल्दी सड़क पार कर रही थीं। कई एक पहिये, एक-दूसरे के पीछे घूमते हमवार सड़क पर फिसलते जाते थे। लड़की ने दो-एक बार होंठों पर जबान फेरी और एडवर्ड्स होटल की तरफ मुड़ गई।

एडवर्ड्स होटल और साधना रेस्तरां के बीच सिर्फ़ एक गली का फ़ासला है, जो अक्सर वीरान पड़ी रहती है। गली में घूमते ही लिफ्टमैन रहमान ड्योढ़ी में कुर्सी डाले बैठा नज़र आता है। लिफ्ट हफ़्ते में चार दिन

खराब रहती है, इसलिए ज़्यादातर उसे अपनी मूँछों पर हाथ फेरते रहने के सिवा कोई काम नहीं होता। लड़की ड्योढ़ी के पास पहुँची तो रहमान उसे सलाम करने के लिए नहीं उठा। मूँछ के कोने को उँगली और अँगूठे के बीच मसलते हुए उसने उसे तिरछी आँख से देखा, और वह जीने का पहला मोड़ मुड़ गई, तो पहले की तरह गली के शून्य को गंभीर दृष्टि से देखने लगा।

लड़की अँधेरे में रास्ता टटोलकर कदम रखती हुई सीढ़ियाँ चढ़ती गई। रूबी एंड कंपनी, दिनशॉ ब्रदर्स और मोटर पार्ट्स प्राइवेट लिमिटेड दफ़्तरों के पास से गुज़रकर वह चौथी मंज़िल पर पहुँची। उसकी आँखें फ़िरोज़ी शीशे में जड़े मैले अक्षरों से टकरायीं— राइट्स ऑफ़ एडमिशन रिजर्व्ड। पल-भर साँस लेकर उसने अंदर पोर्टिको में कदम रखा, जिसमें एक टूटा सोफा सेट, एक पैबंद लगी दरी, एक तिपाई और कुछ कुर्सियाँ लगाकर मिसेज एडवर्ड्स ने ड्राइंग-रूम का नाम दे रखा था। लड़की के अंदर पहुँचते ही वहाँ बैठकर अखबार पढ़ते तीन-चार लोगों की आँखें उसकी तरफ उठ गईं। दो-एक की भौंहों पर सवालिया निशान उभर आए।

लड़की ने छह नंबर कमरे का दरवाज़ा खटखटाया। कुछ क्षणों में दरवाज़ा खुला और वह अंदर चली गई। दरवाज़ा बंद हो गया।

ड्राइंग-रूम में कानाफूसी होने लगी।

"कौन है यह?"

"उसकी बहन है।"

"हाँ, उसकी बड़ी बहन है।"

"सगी बहन?"

"सुना यही है कि सगी बहन है।"

"और इनके माँ-बाप?"

"माँ-बाप का पता नहीं है। यह बहन ही कभी-कभी यहाँ आती है।"

"वैसे, यह रहती कहाँ है?"

"यह भी ठीक पता नहीं।..."

कुछ होंठों पर मुस्कुराहटें फैल गईं। आवाज़ और धीमी हो गई।

"काफ़ी दुबली-सी है।"

"वैसे उम्र भी ज़्यादा नहीं है। बाईस-तेईस साल की होगी।"

"अट्ठाईस-तीस साल का तो वही लगता है।"

“पर वह अभी इक्कीस का भी नहीं है। अंदर से खोखला हो चुका है, इसलिए बड़ा लगता है।”

“वह तो कुछ करता-धरता नहीं। दिन-रात यहीं पड़ा रहता है।”

“बहन जो कमाती है।”

इस पर मुस्कराहटें और लंबी हो गईं।

थोड़ी देर में छह नंबर का दरवाज़ा खुला और वह लड़की और उसका भाई साथ-साथ बाहर निकले। लड़की ने मिसेज एडवड्र्स के कमरे का दरवाज़ा खटखटाया। मिसेज एडवड्र्स, जिसके पतले चेहरे की सब लकीरें ठोड़ी की तरफ जाती हैं, माथे पर दो स्थायी बल डाले बाहर निकली।

“यू मिस दारूवाला...।”

“येस मिसेज एडवड्र्स।”

मिसेज एडवड्र्स के जबड़े सख्त हो गए। उसने दोनों को अपने कमरे में दाखिल करके दरवाज़ा बंद कर लिया।

“मैं कहती हूँ, इस बार तुम अपने भाई को साथ ही लेती जाओ,” उसने काँपते हाथों से अपने लिए कुर्सी खींचते हुए कहा, “यह और यहाँ रहेगा, तो एक दिन मैं ही अपना होटल छोड़कर चली जाऊँगी।”

लड़की सामने की कुर्सी पर बैठ गई। उसका भाई खड़ा रहा।

“मैं तुम्हारा बिल देने आयी हूँ,” उसने कहा।

“तुम मेरा आज तक का बिल अदा कर दो और इसे यहाँ से ले जाओ।”

लड़की की आँखों में नमी उभर आयी। उसका भाई मुस्कुराता रहा।

“इसे हँसी आ रही है!” मिसेज एडवड्र्स तेज आँखों से उसे देखती हुई बोली, “अपनी करतूतों पर इसे शरम नहीं आती?”

“मैं पैसे देकर यहाँ रहता हूँ, मुफ़्त में नहीं रहता।” लड़के का चेहरा अकड़ गया और गरदन कुछ बाहर को फैल आयी।

“तू पैसे देता है?” मिसेज एडवड्र्स रजिस्टर खोलकर गुस्से में उसके पन्ने उलटने लगी। “कमाकर पैसे देता, तो तेरे होश-हवास दुरूस्त रहते। तूने तो ज़िंदगी में एक ही काम सीखा है और वह है— खाना और पड़े रहना।”

"जैसे तुम्हारे यहाँ का खाना किसी से खाया जा सकता है!"

मिसेज एडवर्ड्स की आँखों से चिनगारियाँ फटने लगीं।

"तो कौन कहता है तुझसे खाने के लिए? क्यों नहीं आज ही छोड़कर चला जाता?"

वह रसीद-बुक में लगाने के लिए कार्बन ढूँढ़ने लगी, पर अपनी उत्तेजना में कार्बन उसे मिला नहीं। कार्बन रजिस्टर के नीचे दब गया था। लड़की ने वह निकालकर उसके सामने कर दिया।

"इसकी किसी बात का बुरा क्यों मानती हो, मिसेज एडवर्ड्स?" उसने मुलायम स्वर में कहा, "तुम्हें पता है, यह बीमार है।"

"यह बीमार है– यह?" मिसेज एडवर्ड्स पेंसिल को दबा-दबाकर रसीद में संख्याएँ भरने लगी। "मैं तुमसे ठीक कहती हूँ मिस दारूवाला, इसकी बीमारी-वीमारी सब बहाना है। यह घोड़े की तरह तंदुरुस्त है और घोड़े की तरह ही खाता है।"

"जो कुछ तुम्हारे यहाँ बनता है, वह घोड़ा ही खा सकता है, आदमी नहीं।"

मिसेज एडवर्ड्स बहुत अधिक उत्तेजित होने के बाद हताशा की एक साँस लेकर ठंडी पड़ गई। लड़की ने नोट गिनकर उसके सामने रख दिए। उसने रसीद फाड़कर दे दी।

"सुन रही हो इसकी बात?" वह फरियादी की तरह बोली, "अगर यह तुम्हारा भाई न हो, तो मैं इसे एक दिन भी यहाँ न रहने दूँ। इसी वक्त इसका बोरिया-बिस्तर सड़क पर पहुँचवा दूँ।"

उसने नोट उठा लिए और दो बार गिनकर जेब में डाल लिए।

"इसे सुबह एक प्याली दूध और दे दिया करो," लड़की ने उठते हुए कहा। "मैं उसके पैसे अलग से दे दिया करूँगी।"

मिसेज एडवर्ड्स ने तिरस्कार-भरी नज़र से उसके भाई की तरफ देखा।

"न जाने किस खुशकिस्मती से परमात्मा ने तुझे ऐसी बहन दी है, जमशेद दारूवाला!" वह बोली, "तू कतई ऐसी बहन का भाई होने के लायक नहीं।"

जमशेद दारूवाला ने कंधा मोड़कर नाटकीय ढंग से अपना रुख बदल लिया।

"मुझसे दोपहर के वक्त रोज़ ठंडा गोश्त नहीं खाया जाता," वह बहन की आँखों में देखता हुआ बोला, "इससे कह दो कि मेरे लिए यह उस वक्त तरी वाला गोश्त...।"

"मैं तरी वाला गोश्त नहीं दे सकती!" मिसेज एडवर्ड्स ने ज़ोर से रजिस्टर बंद कर दिया, "मैंने एक बार नहीं, दस बार तुमसे कह दिया है और अब रोज़ इस बारे में बक-झक

नहीं करना चाहती। पाँच रुपये आठ आने रोज़ में बंबई का जो दूसरा होटल तुझे कमरा और चार वक्त का खाना दे सकता हो, वहाँ चला जा। इसे यह चाहिए, वह चाहिए। मैंने कह दिया है, मैं एफोर्ड नहीं कर सकती तरी वाला गोश्त...!"

"और यह मेरे ऑमलेट में टमाटर नहीं डालती।"

"यही बहुत है कि मैं तुझे रोज़ दो अंडे का ऑमलेट दे देती हूँ। इससे ज़्यादा मैं कुछ नहीं कह सकती।"

लड़की चुपचाप उठ खड़ी हुई और मिसेज एडवर्ड्स से 'बाय-बाय' कहकर बाहर निकल आयी। उसका भाई कुर्सी को पीठ से पकड़े पल-भर खड़ा रहा, फिर कंधे हिलाकर वह भी बाहर चला आया। लड़की ज़ीने की तरफ मुड़ गई तो वह ड्राइंग-रूम के सोफ़े पर बिखर गया।

"आज तुम्हारा जोड़ का दर्द कैसा है?" किसी ने उससे पूछा।

"जैसा रोज़ रहता है," उसने होंठ सिकोड़कर कहा, " *रॉटन!*"

मिसेज एडवर्ड्स अंदर कुर्सी पर बैठी देर तक बड़बड़ाती रही।

यह शुरू अक्टूबर की बात थी। उसके बाद नवंबर के अंत तक छह-सात हफ़्ते वह लड़की नहीं आयी। वैसे वह हर आठवें-दसवें रोज़ आकर अपने भाई से मिल जाती थी और उसका बिल चुका जाती थी। इतना लंबा वक़्फ़ा पड़ जाने से बिल के साथ-साथ मिसेज एडवर्ड्स के गुस्से का मवाद भी बरदाश्त की हद को पार करने लगा। वह रोज़ जमशेद से पूछती कि उसे अपनी बहन की कुछ खबर है या नहीं। जमशेद एक ही जवाब देता कि उसकी बहन जहन्नुम में चली गई है और जल्द ही वह भी वहाँ जाने वाला है। मिसेज एडवर्ड्स कुढ़ती हुई अपने दरवाज़े तक आती और ड्राइंग रूम में बैठे लोगों के सामने अपना रोना रोने लगती। कहती कि वह औरत है, इसीलिए लोग उसे इतना तंग कर लेते हैं। उसका पति जिंदा होता तो किसी की मजाल थी जो इस तरह का व्यवहार करता।

मिसेज एडवर्ड्स और उसके परिवार के अलावा जमशेद दारूवाला ही उस होटल की एक निश्चित इकाई था। कोई बैरा या खानसामा भी वहाँ साल-भर से ज़्यादा नहीं टिकता था, जबकि जमशेद को वहाँ रहते डेढ़ साल से ऊपर हो गया था। वह भी पहले दो-तीन होटलों में हंगामा करने के बाद वहाँ आया था, वहाँ से भी दूसरे-तीसरे महीने उसे चले जाना पड़ता, पर मिसेज एडवर्ड्स को एक खास वजह से उसकी बहन का लिहाज रखना पड़ता था। जब-तब पाँचवीं मंजिल के किसी कमरे के लिए उसकी ज़रूरत पड़ जाती थी और वह हरबंस सिंह टैक्सी ड्राइवर को भेजकर उसे बुलवा लिया करती थी।

जमशेद दारूवाला पहले दिन से ही अपनी बीमारी की चौड़ी तफ़सील के साथ वहाँ आया था। उसके फेफड़े कमज़ोर थे, उसे जोड़ का दर्द था और जब-तब उसका ब्लड प्रेशर बढ़ जाता था। दो साल घर से गायब रहकर वह ये सब बीमारियाँ साथ ले आया था और यह डॉक्टरी हिदायत भी कि कुछ दिन उसे पूरा आराम करना चाहिए। बहन के साथ उसके फ्लैट में रहने में दोनों को असुविधा थी, इसलिए उसके रहने का प्रबंध बहन ने होटल में कर दिया था।

जमशेद सवेरे देर से उठता। जब और लोग तैयार होकर बाहर जा रहे होते तो वह दाँतों पर ब्रश करता हुआ बाथरूम की तरफ जाता। जब खाने का समय होता तो वह नहाने

के लिए गरम पानी की माँग करता। लगभग अढ़ाई बजे, जब बैरे छुट्टी कर जाते तो वह डाइनिंग रूम में आकर खाने के लिए चिल्लाने लगता। उस समय प्राय: मिसेज एडवर्ड्स की उससे झड़प हो जाती थी। मिसेज एडवर्ड्स इस कानूनी नुक्ते को लेकर लड़ती कि बाहर लगे बोर्ड के अनुसार खाने का वक्त बारह से दो बजे तक है, उसके बाद उसे गरम खाना नहीं दिया जा सकता। जमशेद की नज़र में मिसेज एडवर्ड्स को ऐसा कानून बनाने का कोई अधिकार नहीं था। एक बोर्डर की हैसियत से उसे यह हक हासिल था कि वह जिस समय चाहे, गरम खाने की माँग करे। मिसेज एडवर्ड्स बड़बड़ाती हुई खुद उसका खाना गरम करके देती थी और जो भी बना होता, उसे लेकर फिर उनमें बहस हो जाती थी।

"खूब!" जमशेद प्लेट पर नज़र डालते ही कहता, "आज का क्या मीनू है, मिसेज एडवर्ड्स? स्लाइस, काले पत्थर के टुकड़े और समुंदर का पानी! सभी सेहत अफज़ा चीज़ें हैं।"

"परमात्मा के घर से अपनी अम्माँ को बुला ला, जो तेरे लिए इससे अच्छी चीज़ें बना दिया करे।"

"कुछ दिन और यहाँ का खाना खाऊँगा, तो मैं आप ही उसके पास पहुँच जाऊँगा।"

और मिसेज एडवर्ड्स रोज़ किसी न किसी के सामने घोषणा करती कि वह चौबीस घंटे के अंदर-अंदर उससे कमरा खाली करवा लेगी।

मिसेज एडवर्ड्स के अलावा आस-पास के कमरों में रहने वाले लोगों से भी जमशेद के आदान-प्रदान चलते रहते थे। हर कमरे में जाकर वहाँ ठहरे हुए लोगों से परिचय कर लेना उसकी हॉबी थी। परिचय के बाद शीघ्र ही वह हर एक से बेतकल्लुफ़ हो जाता और उससे ड्रिंक की या छोटे-मोटे कर्ज़ की माँग करने लगता। डेढ़ साल के इतिहास में उसने किसी का कर्ज़ कभी लौटाया नहीं था— सिवाय एक कर्ज़ के, जो मारपीट की नौबत आ जाने से मिसेज एडवर्ड्स ने उसकी तरफ से अदा कर दिया था और उसके हिसाब में उसकी बहन से वसूल कर लिया था। नीले या पीले रंग की टी-शर्ट पहने वह ड्राइंग-रूम के सोफ़े पर लेटा सीटी बजाता रहता। उसका एक हाथ माथे की लटों से खेलता रहता और दूसरा तरह-तरह की नाटकीय मुद्राओं में अभिनय करता रहता। कोई उससे उसका परिचय पूछता, तो वह माथे की लट को पीछे झटककर अदा के साथ कहता, "मैं एक आर्टिस्ट हूँ।"

फिर वह यह स्पष्ट करता कि अभी वह बीमार है— ठीक होने पर फैसला करेगा कि अपनी किस आर्ट को डिवेलप करे। शौक उसे सभी कलाओं का था, जिनका

थोड़ा-बहुत प्रदर्शन वह वहाँ करता रहता था। कभी कार्टून बनाता और कभी अभिनय के साथ फिल्मी धुनें गाया करता। बहुत दिनों से कोई उसे ड्रिंक देने या सिनेमा दिखानेवाला नहीं मिला था, इसलिए आजकल उस पर निराशा का भूत सवार था। वह प्राय: बगलों में हाथ दबाये खिड़की के पास सड़क से गुजरती बसों और ट्रामों को देखता रहता। उसकी दाढ़ी तीन-तीन दिन की बढ़ी रहती। उसका नहाने-खाने का वक्त अब पहले से भी अनिश्चित हो गया था।

कभी वह उतरकर नीचे सड़क पर चला जाता और मुँह उठाए बस-स्टॉप के पास खड़ा रहता। घरघराहट, घंटियों की टन्-टन् और हिस्चु-हिस्चु-हिस्चु की आवाज़... वह जड़ नजर से पास से गुजरती दुनिया को देखता रहता। अँधेरा होने पर कई छायाएँ फुटपाथ के खंभों के साथ सटी हुई नज़र आतीं। सामने रीगल की बत्तियाँ चमकती दिखायी देतीं। बस-स्टैंड के अँधेरे में खड़ी कोई आकृति व्यस्तता प्रकट करती हुई बार-बार घड़ी की तरफ देखती। टैक्सियों के दायरे के पास खड़ी कोई आकृति वातावरण के प्रति उदासीनता प्रकट करती हुई बार-बार गले का पसीना पोंछती या मुँह के आगे रूमाल रखकर ज़रा-ज़रा खाँसती। वह आँखें गड़ाकर उन सबको देखता। पेट्रोल-पंप के पास खड़े छोकरे रूखे बालों पर हाथ फेरते हुए एक-दूसरे को आँखों से इशारा करते। थोड़ी देर में वे आकृतियाँ टैक्सियों में दाखिल हो जातीं और टैक्सियाँ दायें और बायें को मुड़कर भीड़ में खो जातीं। उसकी आँखें उधर से हटतीं, तो रीगल की बत्तियों से चुंधियाँ जातीं— इंग्रिड बर्गमेन और ग्रेगरी पेक एक अभिजात भावातिरेक की मुद्रा में... जेनिफर जोन्स, विभोर होकर क्रॉस के सामने झुकी हुई...।

तभी वह चौंककर किसी बस या ट्राम की खिड़की की तरफ देखता, जो आँखें स्थिर होने से पहले ही सामने ओझल हो जातीं।

दिन में एकाध बार वह बहन के फ्लैट पर भी हो आता। वहाँ हर समय उसे ताला लगा मिलता। हरबंस सिंह टैक्सी-ड्राइवर ने बताया था कि वह भी वहाँ गया है, उसने भी ताला ही लगा देखा है। छह-सात हफ़्ते से किसी टैक्सी ड्राइवर को वह नहीं मिली थी। लगता यही था कि किसी के साथ बंबई से बाहर चली गई होगी, या शायद...।

जमशेद रात को देर-देर तक मैरीन ड्राइव पर या गेटवे ऑफ इंडिया के पास घूमता रहता। नैरीमन पाइंट की सीढ़ियों पर वह तब तक बैठा रहता, जब तक समुद्र का पानी उसकी टाँगों तक न बढ़ आता। रात की रोशनी में चमकती सुनसान सड़कों पर से लौटते हुए उसे लगता कि वह चल नहीं रहा, किसी तरह अपने को घसीटकर आगे ले जा

रहा है। वह देर से वापस आकर उस बिल्डिंग का दरवाज़ा खटखटाता, तो पहले उसे चौकीदार की बड़बड़ाहट सुननी पड़ती। फिर ज़ीने में बिखरकर सोये व्यक्तियों के ऊपर से लाँघना पड़ता। कमरा खोलते हुए साथ के किसी कमरे से खाँसी की आवाज़ सुनायी देती। वह पलंग पर लेट जाता तो खाँसी की आवाज़ आस-पास के सारे वातावरण को छा लेती। वह कई-कई बार तकिए की स्थिति बदलता या पैताने होकर सोने की कोशिश करता। खाँसी की आवाज़ बंद होती तो कहीं से घड़ी की टिक्-टिक् सुनायी देने लगती।... सुबह जब उसकी आँख खुलती तो बारह-साढ़े बारह बज चुके होते। कमरे से निकलते ही मिसेज एडवर्ड्स से उसका टकराव हो जाता। उसे देखते ही मिसेज एडवर्ड्स की त्योरियाँ चढ़ जातीं और वह किसी और की तरफ देखकर कहतीं, "लो, साहब उठ खड़ा हुआ है!"

वह दाँतों को ब्रश से रगड़ता हुआ उसके पास से निकलकर चला जाता।

उधर से लौटकर आता, तो भी मिसेज एडवर्ड्स कोई वैसी ही बात कह देतीं, "अब दो बजे साहब नाश्ता करेगा।"

"दो बजे नहीं, तीन बजे करेगा साहब नाश्ता!" एक दिन जमशेद बुरी तरह भड़क उठा, "तुम्हारे पेट में क्यों तकलीफ़ होती है?"

मिसेज एडवर्ड्स तमककर खड़ी हो गईं,

"मुझे तकलीफ़ होती है क्योंकि मेरा पैसा लगता है। तेरा बाप यहाँ मेरे लिए अपनी जायदाद नहीं छोड़ गया है।"

"बक नहीं।"

"क्या ऽऽ ?" मिसेज एडवर्ड्स गुस्से में सब कुछ भूल गईं। "तू शरम से डूब नहीं मरता? बहन के पाप की कमाई से रोटी खाता है और मेरे सामने आँखें तरेरता है! थू है तेरे जैसे आदमी पर! थू...थू..."

जमशेद के हाथ ऐसे हिले जैसे अभी उसे गले से पकड़ लेगा। पर उसके घुटने नहीं हिले और वह जकड़ा-सा अपनी जगह खड़ा रहा। मिसेज एडवर्ड्स पाँच नंबर के सेठ के सामने जाकर रोने लगी, "सुना तुमने सेठ जी! मेरे होटल में रहकर, मेरी बोटी खाकर मुझे गाली देते इसे शरम नहीं आयी। मेरा मर्द आज जिंदा होता तो देखती कि कौन मुझे इस तरह गाली देता है!"

जमशेद दाँत भींचे तेजी से मुड़ा, और उसने कमरे में जाकर धम्-से दरवाज़ा बंद कर लिया। कुछ देर बाद पतलून-कमीज पहने वह उसी ओर तेजी के साथ निकला और किवाड़ ज़ोर-से पीछे को धकेलकर ज़ीने से नीचे चला गया।

उसके बाद वह फिर लौटकर नहीं आया।

रात के ग्यारह बजे तक मिसेज एडवर्ड्स इंतज़ार करती रहीं। उसके बाद उसने कमरे को ताला लगवा दिया। तीन दिन वह ड्राइंग-रूम में हर एक के सामने रोती-कलपती रही। चौथी रात उसने दो आदमियों के सामने ताला खोला और सामान की जाँच की। कपड़ों वाला ट्रंक खुला था। मुचड़ा हुआ नाइट-सूट चारपाई पर पड़ा था। मेज़ पर दवाई की कुछ शीशियाँ और एक खाली पोस्टकार्ड रखा था। एक टॉनिक की शीशी अभी खोली नहीं गई थी। फ़र्श पर टूटी हुई काली बाथरूम चप्पल, दो-एक बकल्ज और पुराने बदबूदार मोजे पड़े थे। जंग खाए शीशे के पास टूटी हुई कंघी और बदनुमा-सा शेव का सामान रखा था। तकिए के नीचे एक फटी हुई किताब थी— 'हाऊ टु विन फ्रेंड्स एंड एन्फ्लुएंस पीपल!'

वे सब चीज़ें बैरे से उठवाकर उसने अपने कमरे के एक कोने में रखवा दीं। सारा सामान वह दूसरों को सुनाकर कहती रहीं, "यह कूड़ा मेरे लिए छोड़ गया है? मैं इसे हाथ से छुऊँगी भी नहीं। मेरा सात हफ़्ते का बिल है। लोग मेरे एहसान का मुझे यह बदला देते हैं...!"

अगले दिन छह नंबर कमरे में नया किरायेदार आ गया।

इसके अठारह-बीस दिन बाद एक शाम को, जब दो-एक व्यक्ति ड्राइंग-रूम में चाय

How to
HOW TO

पी रहे थे, वह दुबली लड़की ज़ीने से आकर क्षण-भर के लिए ड्योढ़ी में रुकी, फिर रूमाल से माथे का पसीना पोंछती हुई अंदर आ गई। ड्राइंग-रूम में बैठे व्यक्तियों की आँखों में फिर सवालिया संकेत पैदा हुए। एक ने कंधे झटक दिए, दूसरा मुँह बनाकर चाय पीने में व्यस्त हो रहा।

लड़की ने छह नंबर कमरे का दरवाज़ा खटखटाया। दरवाज़ा खुलने पर वह थोड़ी अचकचा गई।

"जमशेद दारूवाला यहाँ नहीं है?" उसने पूछा।

"उस कमरे में जाकर पूछना माँगता है," उसे जवाब मिला,"होटल का प्रोप्राइट्रेस उधर रहता है।"

लड़की ने मिसेज एडवर्ड्स का दरवाज़ा खटखटाया। मिसेज़ एडवर्ड्स उसे देखकर अचकचा गईं।

"यू मिस दारूवाला...?"

"येस मिसेज एडवर्ड्स।"

"आओ, आओ!" उसने उसे अंदर दाखिल करते हुए कहा, "लेकिन वह... तुम्हारा भाई... वह कहाँ है?"

"वह यहाँ नहीं है?"

"यहाँ?" मिसेज एडवर्ड्स के गले से एक अजीब-सी आवाज़ पैदा हुई। "यहाँ से तो वह कई दिन हुए भाग गया है। व्हाट ए मैन! बैठो, कुरसी लो।"

लड़की कुरसी की बाँहें पकड़कर बैठ गई। मेज पर हिसाब का रजिस्टर और रसीद की कॉपियाँ करीने से रखी थीं। टाइम-पीस के काले डायल के आगे सफेद सुइयाँ चमक रही थीं। हर चीज़ जैसे घड़ी की आवाज़ के साथ टिक्-टिक् कर रही थी। लड़की ने होंठों पर जबान फेरी। मिसेज एडवर्ड्स ने अपनी कुरसी का रुख बदल लिया।

"कितने दिन हुए उसे यहाँ से गए?" लड़की के गले में कुछ खराश आ गई थी।

"आज बाईस-तेईस दिन हो गए।"

लड़की सूनी आँखों से मिसेज एडवर्ड्स के चेहरे को देखती रही— जैसे वह चेहरा न होकर कोई बेजान चीज़ हो। उसके माथे पर पसीने की बूँदें झलक आयीं।

"तुम इतने दिन कहाँ थी?" मिसेज एडवर्ड्स ने पूछा, "मैं रोज़ हरबंस सिंह से पता कराती रही हूँ। वह कहता था...।"

"मैं अस्पताल मैं थी," लड़की कठिनाई से शब्दों को जबान पर ला पायी।

"अस्पताल में?" मिसेज एडवर्ड्स के चेहरे पर थोड़ी कोमलता आ गई। "बीमार थी?"

लड़की ने रूमाल से माथे का पसीना पोंछ लिया। "मेरा ऑपरेशन हुआ था।"

"ऑपरेशन? किसी चीज़ का ऑपरेशन?"

लड़की की आँखें ऊपर उठीं और झुक गईं। मिसेज एडवर्ड्स की आँखें उसके चेहरे को टटोलती रहीं।

"तुम्हारा मतलब है तुमने...?"

लड़की की आँखें फिर उठीं और झुक गईं।

"च्च्- च्च्...!" मिसेज एडवर्ड्स की त्योरियाँ गहरी हो गईं।

लड़की की आँखें कई क्षण उठी रहीं और उसके होंठ काँपते रहे। मिसेज एडवर्ड्स ने एक लंबी साँस ली। लड़की कुछ क्षण अपने में खोयी रही। फिर सहसा उठ खड़ी हुई।

"तुम्हारे भाई का सामान पड़ा है," मिसेज एडवर्ड्स ने कोने की तरफ इशारा कर दिया।

लड़की कई क्षण कोने में पड़ी चीज़ों को देखती रही।

"इन्हें बेचकर पैसे हिसाब में जमा कर लेना," उसने कहा।

"लेकिन," मिसेज एडवर्ड्स भी बिल-बुक को सहलाती हुई खड़ी हो गई। "इनमें बिकनेवाली चीज़ तो कोई भी नहीं है। उसका सात हफ़्ते तीन दिन का बिल बाकी है।"

"जितना बाकी है, मैं दे जाऊँगी।"

"यही समझो कि पूरा ही बाकी है।"

"मैं दे जाऊँगी।"

और जल्दी से दरवाज़ा खोलकर वह ज़ीने की तरफ बढ़ गई। फुटपाथ पर आकर वह सड़क पर से जाती हुई धुँधली रेखाओं को देखती रही। फिर साधना रेस्तरां के अंदर चली गई। सामने प्लेटफ़ॉर्म पर कई जगह शतरंज की बाज़ियाँ चल रही थीं। गंभीर चेहरे, गंभीर आँखें और बगुलों की तरह मोहरों पर पड़ते हाथ...। लड़की ने चेहरा सख्त किए हुए दो-एक बार आँखों पर रूमाल फेरा, फिर अच्छी तरह आँखों को रूमाल से दबा लिया। मोहरों को उठाते हाथ क्षण-भर के लिए रुके और गंभीर चेहरों की रेखाएँ कुछ गहरी हो गईं। बैरा पास आया, तो लड़की ने धुँधली आँखों से बैरे की तरफ देखा और सहसा उठकर रेस्तरां से बाहर आ गई। पटरी के चिकने पत्थरों पर अस्थिर कदम रखती हुई वह बस-स्टॉप के पास आकर खड़ी हो गई।

भीड़ से लदी बसें और ट्रामें म्यूज़ियम की तरफ जा रही थीं, या उधर से इस तरफ आ रही थीं। टैक्सियों के दायरे में कितनी ही टैक्सियाँ जमा थीं। आर्ट गैलरी के बाहर बहुत

भीड़ थी। शायद वहाँ कोई प्रदर्शनी चल रही थी। बस पकड़नेवालों की क्यू धीरे-धीरे आगे को सरक रही थी। लड़की देर तक जड़-सी अपनी जगह पर खड़ी रही और इधर से उधर, उधर से इधर देखती रही।

संवाद

1. "यह बीमार है– यह?" मिसेज एडवर्ड्स के इस कथन का आधार क्या था? विचार कीजिए।
2. मिस दारूवाला अपने प्रति हिकारत का भाव रखने वाले अपने भाई जमशेद का ख्याल किस कर्तव्यबोध के तहत रखती है? परिस्थितियों पर आपसी चर्चा कीजिए।

दादी अम्मा

कृष्णा सोबती

'दादी अम्मा' कृष्णा सोबती की एक मर्मस्पर्शी कहानी है। कहानी की मुख्य पात्र दादी अम्मा का परिवार पति, बेटों-बहुओं, पोते-पोतियों और पौत्र वधुओं आदि से भरा-पूरा है लेकिन दादी के लिए किसी के पास कोई समय नहीं है। कृष्णा सोबती ने इस कहानी के माध्यम से बूढ़ी दादी की मनोदशा और व्यथा का वर्णन किया है। अपनी संवेदना में यह कहानी जैसे हम सबके परिवारों की हो जाती है, जो बताती है कि पात्र भले बदलते जाएँ, चरित्र वही रहते हैं।

बहार फिर आ गई। बसंत की हल्की हवाएँ पतझर के फीके ओठों को चुपके-से चूम गईं। जाड़े के सिकुड़े-सिकुड़े पंख फड़फड़ाए और सर्दी दूर हो गई। आँगन में पीपल के पेड़ पर नये पात खिल-खिल आये। परिवार के हँसी-खुशी में तैरते दिन-रात मुस्कुरा उठे। भरा-भराया घर। सँभाली-सँवरी-सी सुंदर-सलोनी बहुएँ। चंचलता से खिलखिलाती बेटियाँ। मजबूत बाँहों वाले युवा बेटे। घर की मालकिन मेहराँ अपने हरे-भरे परिवार को देखती है और सुख में भीग जाती है। ये पाँचों बच्चे उसकी उमर-भर की कमाई हैं।

उसे वे दिन नहीं भूलते जब ब्याह के बाद छह वर्षों तक उसकी गोद नहीं भरी थी। उठते-बैठते सास की गंभीर कठोर दृष्टि उसकी समूची देह को टटोल जाती। रात को तकिए पर सिर डाले-डाले वह सोचती कि पति के प्यार की छाया में लिपटे-लिपटे भी उसमें कुछ

व्यर्थ हो गया है, असमर्थ हो गया है। कभी सकुचाती-सी ससुर के पास से निकलती तो लगता कि इस घर की देहरी पर पहली बार पाँव रखने पर जो आशीष उसे मिली थी, वह उसे सार्थक नहीं कर पायी। वह ससुर के चरणों में झुकी थी और उन्होंने सिर पर हाथ रखकर कहा था, "बहूरानी, फूलो-फलो।" कभी दर्पण के सामने खड़ी-खड़ी वह बाँहें फैलाकर देखती– क्या इन बाँहों में अपने उपजे किसी नन्हे-मुन्ने को भर लेने की क्षमता नहीं!

छह वर्षों की लंबी प्रतीक्षा के बाद सर्दियों की एक लंबी रात में करवट बदलते-बदलते मेहराँ को पहली बार लगा था कि नर्म-नर्म लिहाफ़ से वह सिकुड़ी पड़ी है, वैसे ही उसमें, उसके तन-मन-प्राण के नीचे गहरे कोई धड़कन उससे लिपटी आ रही है। उसने अँधियारे में एक बार सोये हुए पति की ओर देखा था और अपने से लजाकर अपने हाथों से आँखें ढाँप ली थीं। बंद पलकों के अंदर से दो चमकती आँखें थीं, दो नन्हे-नन्हे हाथ थे, दो पाँव थे। सुबह उठकर किसी मीठी शिथिलता में घिरे-घिरे अँगड़ाई ली थी। आज उसका मन भरा है। तन भरा है। सास ने भाँपकर प्यार बरसाया था–

"बहू, अपने को थकाओ मत; जो सहज-सहज कर सको, करो। बाकी मैं सँभाल लूँगी।"

वह कृतज्ञता से मुस्कुरा दी थी। काम पर जाते पति को देखकर मन में आया था कि कहे– 'अब तुम मुझसे अलग बाहर ही नहीं, मेरे अंदर भी हो।'

दिन में सास आ बैठी; माथा सहलाते-सहलाते बोली, "बहूरानी, भगवान मेरे बच्चे को तुम-सा रूप दे और मेरे बेटे-सा जिगरा।"

बहू की पलकें झुक आयीं।

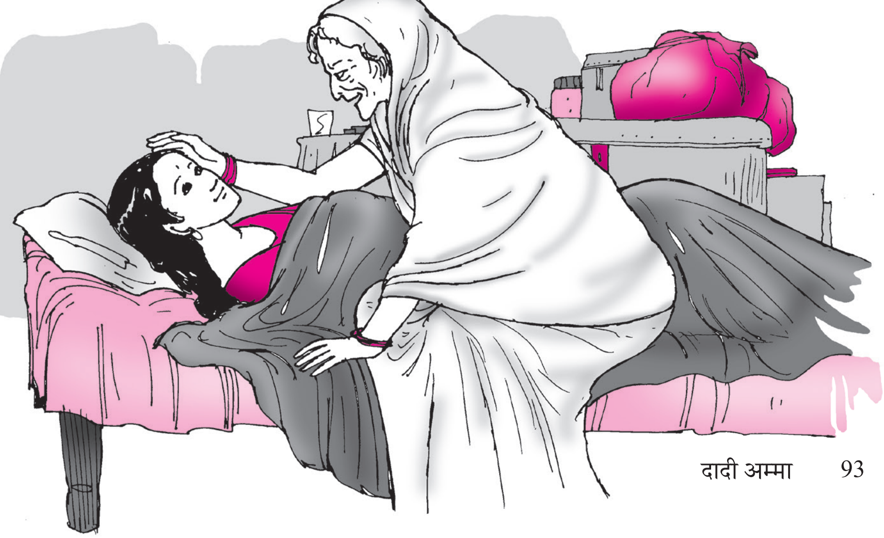

“बेटी, उस मालिक का नाम लो। जिसने बीज डाला है, वह फल भी देगा।”

मेहराँ को माँ का घर याद हो आया। पास-पड़ोस की स्त्रियों के बीच माँ भाभी का हाथ आगे कर रही है, “बाबा, यह बताओ, मेरी बहू के भाग्य में कितने फल हैं?”

पास खड़ी मेहराँ समझ नहीं पायी। हाथ में फल?

“माँ, हाथ में फल कब होते हैं? फल किसे कहती हो माँ?”

माँ लड़की की बात सुनकर पहले हँसी, फिर गुस्सा होकर बोली, “दूर हो मेहराँ। जा, बच्चों के संग खेल!”

उस दिन मेहराँ का छोटा-सा मन यह समझ नहीं पाया था, पर आज तो सास की बात वह समझ ही नहीं, बूझ भी रही थी।

बहू के हाथ में फल होते हैं, बहू के भाग्य में फल होते हैं और परिवार की बेल बढ़ती है।

मेहराँ की गोद से इस परिवार की बेल बढ़ी है। आज घर में तीन बेटे हैं, उनकी बहुएँ हैं। ब्याह देने योग्य दो बेटियाँ हैं। हल्के-फुल्के कपड़ों में लिपटी उसकी बहुएँ जब उसके सामने झुकती हैं तो क्षण-भर के लिए मेहराँ के मस्तक पर घर की स्वामिनी होने का अभिमान उभर आता है। वह बैठे-बैठे उन्हें आशीष देती है और मुस्कुराती है। ऐसे ही, बिलकुल ऐसे ही वह भी कभी सास के सामने झुकती थी। आज तो वह तीखी निगाहवाली मालकिन, बच्चों की दादी अम्मा बनकर रह गई है। पिछवाड़े के कमरे से जब दादा के साथ बोलती हुई अम्मा की आवाज़ आती है तो पोते क्षण भर ठिठककर अनसुनी कर देते हैं। बहुएँ एक-दूसरे को देखकर मन-ही-मन हँसती हैं। लाडली बेटियाँ सिर हिला-हिलाकर खिलखिलाती हुई कहती हैं, “दादी अम्मा बूढ़ी हो आयी, पर दादा से झगड़ना नहीं छोड़ा।”

मेहराँ भी कभी-कभी पति के निकट खड़ी हो कह देती है, “अम्मा नाहक बापू के पीछे पड़ी रहती है। बहू-बेटियों वाला घर है, क्या यह अच्छा लगता है?”

पति एक बार पढ़ते-पढ़ते आँखें ऊपर उठाते हैं। पल-भर पत्नी की ओर देख दोबारा पन्ने पर दृष्टि गड़ा देते हैं। माँ की बात पर पति की मौन-गंभीर मुद्रा मेहराँ को नहीं भाती। लेकिन प्रयत्न करने पर भी वह कभी पति को कुछ कह देने तक खींच नहीं पायी। पत्नी पर एक उड़ती निगाह, और बस। किसी को आज्ञा देती मेहराँ की आवाज़ सुनकर कभी उन्हें भ्रम हो आता है। वह मेहराँ का नहीं, अम्मा का ही रोबीला स्वर है। उनके होश में अम्मा ने कभी ढीलापन जाना ही नहीं। याद नहीं आता कि कभी माँ के कहने को वह जाने-अनजाने

टाल सके हों। और अब जब माँ की बात पर बेटियों को हँसते सुनते हैं तो विश्वास नहीं आता। क्या सचमुच माँ आज ऐसी बातें किया करती हैं कि जिन पर बच्चे हँस सकें?

और अम्मा तो सचमुच उठते-बैठते बोलती है, झगड़ती है, झुकी कमर पर हाथ रखकर वह चारपाई से उठकर बाहर आती है तो जो सामने हो, उस पर बरसने लगती है।

बड़ा पोता काम पर जा रहा है। दादी अम्मा पास आ खड़ी हुई। एक बार ऊपर तले देखा और बोली, "काम पर जा रहे हो बेटे, कभी दादा की ओर भी देख लिया करो, कब से उनका जी अच्छा नहीं। जिसके घर में भगवान के दिए बेटे-पोते हों, वह इस तरह बिना दवा-दारू पड़े रहते हैं।"

बेटा दादी अम्मा की नज़र बचाता है। दादा की खबर क्या घर-भर में उसे ही रखनी है! छोड़ो, कुछ-न-कुछ कहती ही जायेंगी अम्मा, मुझे देर हो रही है। लेकिन दादी अम्मा जैसे राह रोक लेती हैं, "अरे बेटा, कुछ तो लिहाज करो। बहू-बेटे वाले हुए, मेरी बात तुम्हें अच्छी नहीं लगती!"

मेहराँ मँझली बहू से कुछ कहने जा रही थी, लौटती हुई बोली, "अम्मा, कुछ तो सोचो। लड़का बहू-बेटों वाला है तो क्या उस पर तुम इस तरह बरसती रहोगी?"

दादी अम्मा ने अपनी पुरानी निगाह से मेहराँ को देखा और जलकर कहा, "क्यों नहीं बहू, अब तो बेटों को कुछ कहने के लिए तुमसे पूछना होगा! यह बेटे तुम्हारे हैं, घर-बार तुम्हारा है, हुक्म हासिल तुम्हारा है।"

मेहराँ पर इस सबका कोई असर नहीं हुआ। सास को वहीं खड़ा छोड़ वह बहू के पास चली गई।

दादी अम्मा ने अपनी पुरानी आँखों से बहू की वह रोबीली चाल देखी और ऊँचे स्वर में बोली, "बहूरानी, इस घर में अब मेरा इतना-सा मान रह गया है! तुम्हें इतना घमंड...!"

मेहराँ को सास के पास लौटने की इच्छा नहीं थी, पर घमंड की बात सुनकर लौट आयी।

"मान की बात करती हो अम्मा? तो आये दिन छोटी-मोटी बात लेकर जलने-कलपने से किसी का मान नहीं रहता।"

इस उलटी आवाज़ ने दादी अम्मा को और जला दिया। हाथ हिला-हिलाकर क्रोध में रुक-रुककर बोली, "बहू, यह सब तुम्हारे अपने सामने आयेगा! तुमने जो मेरा जीना दूभर कर दिया है, तुम्हारी तीनों बहुएँ भी तुम्हें इसी तरह समझेंगी, समझेंगी क्यों नहीं, ज़रूर समझेंगी।"

कहती-कहती दादी अम्मा झुकी कमर से पग उठाती अपने कमरे की ओर चल दी। राह में बेटे के कमरे का द्वार खुला देखा तो बोली, "जिस बेटे को मैंने अपना दूध पिलाकर पाला, आज उसे देखे मुझे महीनों बीत जाते हैं, उससे इतना नहीं हो पाता कि बूढ़ी अम्मा की सुधि ले।"

मेहराँ मँझली बहू को घर के काम-धंधे के लिए आदेश दे रही थी। पर कान इधर ही थे। 'बहुएँ उसे भी समझेंगी' इस अभिशाप को वह कड़वा घूँट समझकर पी गई थी, पर पति के लिए सास का यह उलाहना सुनकर न रहा गया। दूर से ही बोली, "अम्मा, मेरी बात छोड़ो, पराये घर की हूँ, पर जिस बेटे को घर-भर में सबसे अधिक तुम्हारा ध्यान है, उसके लिए यह कहते तुम्हें झिझक नहीं आती? फिर कौन माँ है, जो बच्चों को पालती-पोसती नहीं!"

अम्मा ने अपनी झुर्रियों पड़ी गर्दन पीछे की। माथे पर पड़े तेवरों में इस बार क्रोध नहीं भर्त्सना थी। चेहरे पर वही पुरानी उपेक्षा लौट आयी, “बहू, किससे क्या कहा जाता है, यह तुम बड़े समधियों से माथा लगा सब कुछ भूल गई हो। माँ अपने बेटे से क्या कहे, यह भी क्या अब मुझे बेटे की बहू से ही सीखना पड़ेगा? सच कहती हो बहू, सभी माँएँ बच्चों को पालती हैं। मैंने कोई अनोखा बेटा नहीं पाला था, बहू! फिर तुम्हें तो मैं परायी बेटी ही करके मानती रही हूँ। तुमने बच्चे आप जने, आप ही वे दिन काटे, आप ही बीमारियाँ झेलीं!”

मेहराँ ने खड़े-खड़े चाहा कि सास यह न कहकर कुछ और कहतीं। वह इतनी दूर नहीं उतरी कि इन बातों का जवाब दे। चुपचाप पति के कमरे में जाकर इधर-उधर बिखरे कपड़े सहेजने लगी।

दादी अम्मा कड़वे मन से अपनी चारपाई पर जा पड़ी। बुढ़ापे की उम्र भी कैसी होती है! जीते-जी मन से संग टूट जाता है। कोई पूछता नहीं, जानता नहीं। घर के पिछवाड़े जिसे वह अपनी चलती उम्र में कोठरी कहा करती थी, उसी में आज वह पति के साथ रहती है। एक कोने में उसकी चारपाई है और दूसरे कोने में पति की, जिसके साथ उसने अगणित बहार और पतझर गुजार दिए हैं। कभी घंटों वे चुपचाप अपनी-अपनी जगह पर पड़े रहते हैं। दादी अम्मा बीच-बीच में करवट बदलते हुए लंबी साँस लेती है। कभी पतली नींद में पड़ी-पड़ी वर्षों पहले की कोई भूली-बिसरी बात करती है, पर बच्चों के दादा उसे सुनते नहीं। दूर कमरों में बहुओं की मीठी दबी-दबी हँसी वैसे ही चलती रहती है। बेटियाँ खुले-खुले खिलखिलाती हैं। बेटों के कदमों की भारी आवाज़ कमरे तक आकर रह जाती है और दादी अम्मा और पास पड़े दादा में जैसे बीत गए वर्षों की दूरी झूलती रहती है।

आज दादा जब घंटों धूप में बैठकर अंदर आये तो अम्मा लेटी नहीं, चारपाई की बाँह पर बैठी थी। गाढ़े की धोती से पूरा तन नहीं ढका था। पल्ला कंधे से गिरकर एक ओर पड़ा था। वक्ष खुला था। आज वक्ष में ढकने को रह भी क्या गया था? गले और गर्दन की झुर्रियाँ एक जगह आकर इकट्ठी हो गई थीं। पुरानी छाती पर कई तिल चमक रहे थे। सिर के बाल उदासीनता से माथे के ऊपर सटे थे।

दादा ने देखकर भी नहीं देखा। अपने-सा पुराना कोट उतारकर खूँटी पर लटकाया और चारपाई पर लेट गए। दादी अम्मा देर तक बिना हिले-डुले वैसी की वैसी बैठी रही। सीढ़ियों पर छोटे बेटे के पाँवों की उतावली-सी आहट हुई। उमंग की छोटी-सी गुनगुनाहट द्वार तक आकर लौट गई। ब्याह के बाद के वे दिन, मीठे मधुर दिन। बार-बार घर की ओर

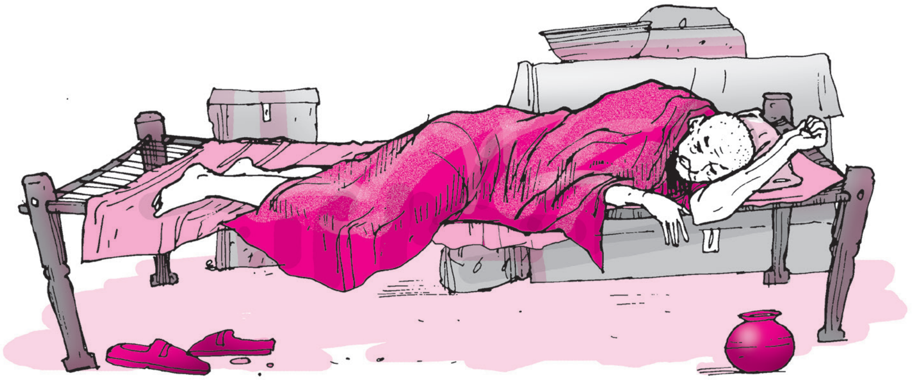

लौटते हैं। प्यारी-सी बहू आँखों में प्यार भर-भरकर देखती है, लजाती है, सकुचाती है और पति की बाँहों में लिपट जाती है। अभी कुछ महीने हुए, यही छोटा बेटा माथे पर फूलों का सेहरा लगाकर ब्याहने गया था। बाजे-गाजे के साथ जब लौटा तो संग में दुलहिन थी। सबके साथ दादी अम्मा ने भी पतोहू का माथा चूमकर उसे हाथ का कंगन दिया था। पतोहू ने झुककर दादी अम्मा के पाँव छुए थे और अम्मा लेन-देन पर मेहराँ से लड़ाई-झगड़े की बात भूलकर कई क्षण दुलहिन के मुखड़े की ओर देखती रही थी। छोटी बेटी ने चंचलता से परिहास कर कहा था, "दादी अम्मा, सच कहो भैया की दुलहिन तुम्हें पसंद आयी? क्या तुम्हारे दिनों में भी शादी-ब्याह में ऐसे ही कपड़े पहने जाते थे?"

कहकर छोटी बेटी ने दादी के उत्तर की प्रतीक्षा नहीं की। हँसी-हँसी में किसी और से उलझ पड़ी।

मेहराँ बहू-बेटे को घेरकर अंदर ले चली। दादी अम्मा भटकी-भटकी दृष्टि से अगणित चेहरे देखती रही। कोई पास-पड़ोसिन उसे बधाई दे रही थी– "बधाई हो अम्मा, सोने-सी बहू आयी है। शुक्र है उम्र मालिक का, तुमने अपने हाथों छोटे पोते का भी काज सँवारा।"

अम्मा ने सिर हिलाया। सचमुच आज उस जैसा कौन है! पोतों की उसे हौंस थी, आज पूरी हुई। पर काज सँवारने में उसने क्या किया, किसी ने कुछ पूछा नहीं तो करती क्या? समधियों से बातचीत, लेन-देन, दुलहिन के कपड़े-गहने, यह सब मेहराँ के अभ्यस्त हाथों से होता रहा है। घर में पहले दो ब्याह हो जाने पर अम्मा से सलाह-सम्मति करना भी आवश्यक नहीं रह गया। केवल कभी-कभी कोई नया गहना गढ़वाने पर या नया जोड़ा बनवाने पर मेहराँ उसे सास को दिखा देती रही है।

बड़ी बेटी देखकर कहती है, "माँ! अम्मा को दिखाने जाती हो, वह तो कहेंगी, 'यह गले का गहना हाथ लगाते उड़ता है। कोई भारी ठोस कंठा बनवाओ, सिर की सिंगार-

पट्टी बनवाओ। मेरे अपने ब्याह में मायके से पचास तोले का रानीहार चढ़ा था। तुम्हें याद नहीं, तुम्हारे ससुर को कहकर उसी के भारी जड़ाऊ कंगन बनवाए थे तुम्हारे ब्याह में!'"

मेहराँ बेटी की ओर लाड़ से देखती है। लड़की झूठ नहीं कहती। बड़े बेटों की सगाई में, ब्याह में अम्मा बीसियों बार यह दोहरा चुकी है। अम्मा को कौन समझाए कि ये पुरानी बातें पुराने दिनों के साथ गईं!

अम्मा नाते-रिश्तों की भीड़ में बैठी-बैठी ऊँघती रही। एकाएक आँख खुली तो नीचे लटकते पल्ले से सिर ढक लिया। ऐसी बेखबरी कि उघाड़े सिर बैठी रही। पर दादी अम्मा को इस तरह अपने को सँभालते किसी ने देखा तक नहीं। अम्मा की ओर देखने की सुधि भी किसे है?

बहू को नया जोड़ा पहनाया जा रहा है। रोशनी में दुलहिन शरमा रही है। ननदें हास-परिहास कर रही हैं। मेहराँ घर में तीसरी बहू को देखकर मन-ही-मन सोच रही है कि बस, अब दोनों बेटियों को ठिकाने लगा दे तो सुर्खरू हो।

बहू का शृंगार देख दादी अम्मा बीच-बीच में कुछ कहती हैं, "लड़कियों में यह कैसा चलन है आजकल? बहू के हाथों और पैरों में मेहँदी नहीं रचाई। यही तो पहला सगुन है।" दादी अम्मा की इस बात को जैसे किसी ने सुना नहीं। साज-शृंगार में चमकती बहू को घेरकर मेहराँ दूल्हे के कमरे की ओर ले चली। नाते-रिश्ते की युवतियाँ मुस्कुरा-मुस्कुराकर शरमाने लगीं; दूल्हे के मित्र-भाई आँखों में नहीं, बाँहों में नये-नये चित्र भरने लगे; और मेहराँ बहू पर आशीर्वाद बरसाकर लौटी तो देहरी के संग लगी दादी अम्मा को देखकर स्नेह जताकर बोली, "आओ अम्मा, शुक्र है भगवान का, आज ऐसी मीठी घड़ी आयी।"

अम्मा सिर हिलाती-हिलाती मेहराँ के साथ हो ली, पर आँखें जैसे वर्षों पीछे घूम गईं। ऐसे ही एक दिन वह मेहराँ को अपने बेटे के पास छोड़ आयी थी। वह अंदर जाती थी, बाहर आती थी। वह इस घर की मालकिन थी।

पीछे, और पीछे –

बाजे-गाजे के साथ उसका अपना डोला इस घर के सामने आ खड़ा हुआ। गहनों की छनकार करती वह नीचे उतरी। घूँघट की ओट से मुस्कुराती, नीचे झुकती और पति की बूढ़ी फूफी से आशीर्वाद पाती।

दादी अम्मा को ऊँघते देख बड़ी बेटी हिलाकर कहने लगी, "उठो अम्मा, जाकर सो रहो, यहाँ तो अभी देर तक हँसी-ठट्ठा होता रहेगा।"

दादी अम्मा झँपी-झँपी आँखों से पोती की ओर देखती है और झुकी कमर पर हाथ रखकर अपने कमरे की ओर लौट जाती है।

उस दिन अपनी चारपाई पर लेटकर दादी अम्मा सोई नहीं। आँखों में न ऊँघ थी, न नींद। एक दिन वह भी दुलहिन बनी थी। बूढ़ी फूफी ने सजाकर उसे भी पति के पास भेजा था। तब क्या उसने यह कोठरी देखी थी? ब्याह के बाद वर्षों तक उसने जैसे यह जाना ही नहीं कि फूफी दिन-भर काम करने के बाद रात को यहाँ सोती है। आँखें मुँद जाने से पहले जब फूफी बीमार हुई तो दादी अम्मा ने कुलीन बहू की तरह उसकी सेवा करते-करते पहली बार यह जाना था कि घर में इतने कमरे होते हुए भी फूफी इस पिछवाड़े में अपने अंतिम दिन-बरस काट रही है। पर यह देखकर, जानकर उसे आश्चर्य नहीं हुआ था। घर के पिछवाड़े में पड़ी फूफी की देह छाँहदार पेड़ के पुराने तने की तरह लगती थी, जिसके पत्तों की छाँह उससे अलग, उससे परे, घर-भर पर फैली हुई थी। आज तो दादी अम्मा स्वयं फूफी बनकर इस कोठरी में पड़ी है। ब्याह के कोलाहल से निकलकर जब दादा थककर अपनी चारपाई पर लेटे तो एक लंबी चैन की सी साँस लेकर बोले, "क्या सो गई हो? इस बार की रौनक, लेन-देन तो मँझले और बड़े बेटे के ब्याह को भी पार कर गई। समधियों का बड़ा घर ठहरा!"

दादी अम्मा लेन-देन की बात पर कुछ कहना चाहते हुए भी नहीं बोली। चुपचाप पड़ी रही। दादा सो गए, आवाज़ें धीमी हो गईं बरामदे में मेहराँ का रोबीला स्वर नौकर-चाकरों को सुबह के लिए आज्ञाएँ देकर मौन हो गया। दादी अम्मा पड़ी रही और पतली नींद से घिरी आँखों से नये-पुराने चित्र देखती रही। एकाएक करवट लेते-लेटे उठ बैठी। रोशनी अभी बुझी नहीं थी। हल्के-हल्के दो-चार कदम उठाये और दादा की चारपाई के पास आ खड़ी हुई। झुककर कई क्षण तक दादा की ओर देखती रही। दादा नींद में बेखबर थे और दादी जैसे कोई पुरानी पहचान कर रही हो। खड़े-खड़े कितने पल बीत गए! क्या दादी ने दादा को पहचाना नहीं? चेहरा उसके पति का है पर दादी तो इस चेहरे को नहीं, चेहरे के नीचे पति को देखना चाहती है। उसे बिछड़े गए वर्षों में से वापस लौटा लेना चाहती है।

सिरहाने पर पड़ा दादा का सिर बिलकुल सफेद था। बंद आँखों से लगी झुर्रियाँ-ही-झुर्रियाँ थीं। एक सूखी बाँह कंबल पर सिकुड़ी-सी पड़ी थी। यह नहीं... यह तो नहीं... दादी अम्मा जैसे सोते-सोते जाग पड़ी थी, वैसे ही इस भूले-भटके भँवर में ऊपर-नीचे होती चारपाई पर जा पड़ी।

उस दिन सुबह उठकर जब दादी अम्मा ने दादा को बाहर आते देखा तो लगा कि रात-भर की भटकी-भटकी तस्वीरों में से कोई भी तस्वीर उसकी नहीं थी। वह इस सूखी देह और झुके कंधे में से किसे ढूँढ़ रही थी?

दादी अम्मा चारपाई की बाँहों से उठी और लेट गई। अब तो इतनी सी दिनचर्या शेष रह गई है। बीच-बीच में कभी उठकर बहुओं के कमरों की ओर जाती है तो लड़-झगड़कर लौट आती है। कैसे हैं उसके पोते, जो उम्र के रंग में किसी की बात नहीं सोचते? किसी की ओर नहीं देखते? बहू और बेटा, उन्हें भी कहाँ फ़ुरसत है? मेहराँ तो कुछ-न-कुछ कहकर चोट करने से भी नहीं चूकती। लड़ने को तो दादी भी कम नहीं, पर अब तीखा-तेज बोल लेने पर जैसे वह थककर चूर-चूर हो जाती है। बोलती है, बोलने के बिना रह नहीं पाती, पर बाद में घंटों बैठी सोचती रहती है कि वह क्यों उनसे माथा लगाती है, जिन्हें उसकी परवाह नहीं। मेहराँ की तो अब चाल-ढाल ही बदल गई है। अब वह उसकी बहू नहीं, तीन बहुओं की सास है। ठहरी हुई गंभीरता से घर का शासन चलाती है। दादी अम्मा का बेटा अब अधिक दौड़-धूप नहीं करता। देख-रेख से अधिक अब बहुओं द्वारा ससुर का आदर-मान ही अधिक होता है। कभी अंदर-बाहर जाते अम्मा मिल जाती है तो झुककर बेटा माँ को प्रणाम अवश्य करता है। दादी अम्मा गर्दन हिलाती-हिलाती आशीर्वाद देती है, “जीयो बेटा, जीयो।”

कभी मेहराँ की जली-कटी बातें सोच बेटे पर क्रोध और अभिमान करने को मन होता है, पर बेटे को पास देखकर दादी अम्मा सब भूल जाती है। ममता-भरी पुरानी आँखों से निहारकर बार-बार आशीर्वाद बरसाती चली जाती है, “सुख पाओ, भगवान बड़ी उम्र दे...।” कितना गंभीर और शीलवान है उसका बेटा! है तो उसका न? पोतों को ही देखो, कभी झुककर दादा के पाँव तक नहीं छूते। आखिर माँ का असर कैसे जाएगा? इन दिनों बहू की बात सोचते ही दादी अम्मा को लगता है कि अब मेहराँ उसके बेटे में नहीं, अपने बेटों में लगी रहती है। दादी अम्मा को वे दिन भूल जाते हैं जब बेटे के ब्याह के बाद बहू-बेटे के लाड़-चाव में उसे पति के खाने-पीने की सुधि तक न रहती थी और जब लाख-लाख शुक्र करने पर पहली बार मेहराँ की गोद भरनेवाली थी तो दादी अम्मा ने आकर दादा से कहा था, “बहू के लिए अब यह कमरा खाली करना होगा। हम लोग फूफी के कमरे में जा रहेंगे।”

दादा ने एक बार भरपूर नज़रों से दादी अम्मा की ओर देखा था, जैसे वह बीत गए वर्षों को अपनी दृष्टि से टटोलना चाहते हों। फिर सिर पर हाथ फेरते-फेरते कहा था, “क्या बेटेवाला कमरा बहू के लिए ठीक नहीं? नाहक क्यों यह सब कुछ उलटा-सीधा करवाती हो?”

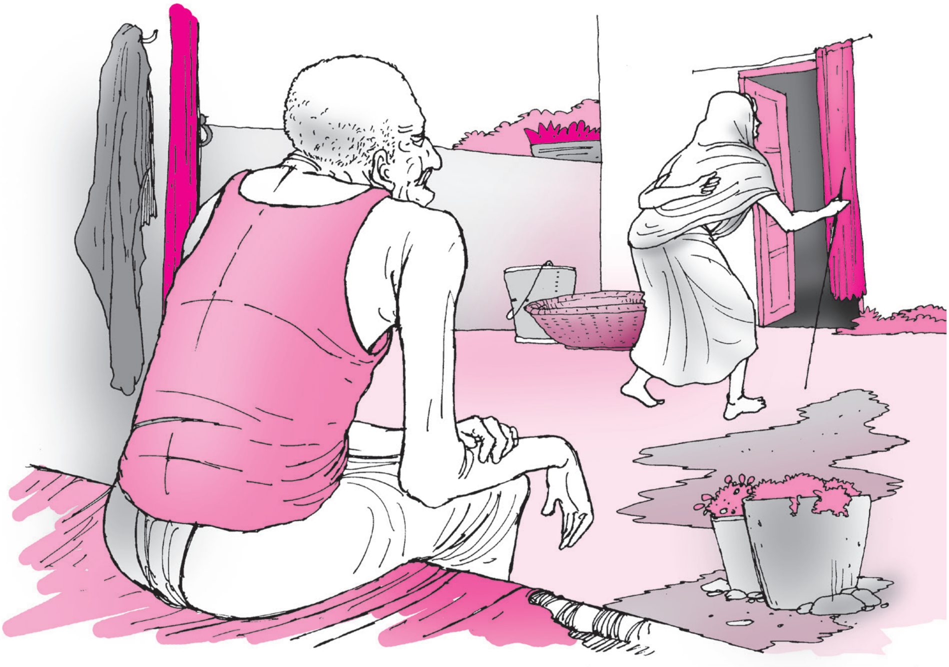

दादी अम्मा ने हाथ हिलाकर कहा, "ओह हो, तुम समझोगे भी! बेटे के कमरे में बहू को रखूँगी तो बेटा कहाँ जाएगा? उलटे-सीधे की फिक्र तुम क्यों करते हो, मैं सब ठीक कर लूँगी।"

और पत्नी के चले जाने पर दादा बहुत देर बैठे-बैठे भारी मन से सोचते रहे थे कि जिन वर्षों का बीतना उन्होंने आज तक नहीं जाना, उन्हीं पर पत्नी की आशा विराम बनकर आज खड़ी हो गई है, आज सचमुच ही उसे इस उलट-फेर की परवाह नहीं।

इस कमरे में बड़ी फूफी उनकी दुलहिन को छोड़ गई थी। उस कमरे को छोड़कर आज वह फूफी के कमरे में जा रहे हैं। क्षण-भर के लिए, केवल क्षण-भर के लिए उन्हें बेटे से ईर्ष्या हुई और उदासीनता में बदल गई। और पहली रात जब वह फूफी के कमरे में सोये तो देर रात गए तक भी पत्नी बहू के पास से नहीं लौटी थी। कुछ देर प्रतीक्षा करने के बाद उनकी पलकें झँपी तो उन्हें लगा कि उनके पास पत्नी का नहीं... फूफी का हाथ है। दूसरे दिन मेहराँ की गोद भरी थी, बेटा हुआ था। घर की मालकिन पति की बात जानने के लिए बहुत अधिक व्यस्त थी।

कुछ दिन से दादी अम्मा का जी अच्छा नहीं। दादा देखते हैं, पर बुढ़ापे की बीमारी से कोई दूसरी बीमारी बड़ी नहीं होती। दादी अम्मा बार-बार करवट बदलती है और फिर

कुछ-कुछ देर के लिए हाँफकर पड़ी रह जाती है। दो-एक दिन से वह रसोईघर की ओर भी नहीं आयी, जहाँ मेहराँ का आधिपत्य रहते हुए भी वह कुछ न कुछ नौकरों को सुनाने में चूकती नहीं है। आज दादी को न देखकर छोटी बेटी हँसकर मँझली भाभी से बोली, "भाभी, दादी अम्मा के पास अब शायद कोई लड़ने-झगड़ने की बात नहीं रह गई, नहीं तो अब तक कई बार चक्कर लगातीं।"

दोपहर को नौकर जब अम्मा के यहाँ से अनछुई थाली उठा लाया तो मेहराँ का माथा ठनका। अम्मा के पास जाकर बोली, "अम्मा, कुछ खा लिया होता, क्या जी अच्छा नहीं?"

एकाएक अम्मा कुछ बोली नहीं। क्षण-भर रुककर आँखें खोलीं और मेहराँ को देखती रह गई।

"खाने को मन न हो तो अम्मा दूध ही पी लो।"

अम्मा ने 'हाँ', 'ना' कुछ नहीं की। न पलकें ही झपकीं। इस दृष्टि से मेहराँ बहुत वर्षों के बाद आज फिर डरी। इनमें न क्रोध था, न सास की तरेर थी, न मनमुटाव था। एक लंबा गहरा उलाहना पहचानते मेहराँ को देर नहीं लगी। डरते-डरते सास के माथे को छुआ। ठंडे पसीने से भीगा था। पास बैठकर धीरे-से स्नेह भरे स्वर में बोली, "अम्मा जो कहो, बना लाती हूँ।"

अम्मा ने सिरहाने पर पड़े-पड़े सिर हिलाया– "नहीं, कुछ नहीं" और बहू के हाथ से अपना हाथ खींच लिया।

मेहराँ पल-भर कुछ सोचती रही और बिना आहट किये बाहर हो गई। बड़ी बहू के पास जाकर चिंतित स्वर में बोली, "बहू, अम्मा कुछ अधिक बीमार लगती हैं, तुम जाकर पास बैठो तो मैं कुछ बना लाऊँ।"

बहू ने सास की आवाज़ में आज पहली बार दादी अम्मा के लिए घबराहट देखी। दबे पाँव जाकर अम्मा के पास बैठ हाथ-पाँव दबाने लगी। अम्मा ने इस बार हाथ नहीं खींचे। ढीली-सी लेटी रही।

मेहराँ ने रसोईघर में जाकर दूध गर्म किया। औटाने लगी तो एकाएक हाथ अटक गया– क्या अम्मा के लिए यह अंतिम बार दूध लिए जा रही है?

दादी अम्मा ने बेखबरी में दो-चार घूँट दूध पीकर छोड़ दिया। चारपाई पर पड़ी अम्मा चारपाई के साथ लगी दीखती थीं। कमरे में कुछ अधिक सामान नहीं था। सामने के कोने में दादा का बिछौना बिछा था।

शाम को दादा आए तो अम्मा के पास बहू और पतोहू को बैठा देख पूछा, "अम्मा तुम्हारी रूठकर लेटी है या...?"

मेहराँ ने अम्मा की बाँह आगे कर दी। दादा ने छूकर हौले-से कहा, "जाओ बहू, बेटा आता ही होगा। उसे डॉक्टर को लिवाने भेज देना।"

मेहराँ ससुर के शब्दों की गंभीरता जानते हुए चुपचाप बाहर हो गई।

बेटे के साथ जब डॉक्टर आया तो दादी अम्मा के तीनों पोते ही वापस आ खड़े हुए। डॉक्टर ने सधे-सधाए हाथों से दादी की परीक्षा की। जाते-जाते दादी के बेटे से कहा, "कुछ ही घंटे और...।"

मेहराँ ने बहुओं को धीमे स्वर में आज्ञाएँ दीं और बेटों से बोली, "बारी-बारी से खा-पी लो, फिर पिता और दादा को भेज देना।"

अम्मा के पास से हटने की पिता और दादा की बारी नहीं आयी उस रात। दादी ने बहुत जल्दी की। डूबते-डूबते हाथ-पाँवों से छटपटाकर एक बार आँखें खोलीं और बेटे और पति के आगे बाँहें फैला दीं, जैसे कहती हों– 'मुझे तुम पकड़ रखो।'

दादी का श्वास उखड़ा, दादा का कंठ जकड़ा और बेटे ने माँ पर झुककर पुकारा, "अम्मा... अम्मा।"

"सुन रही हूँ बेटा, तुम्हारी आवाज़ पहचानती हूँ।"

मेहराँ सास की ओर बढ़ी और ठंडे हो रहे पैरों को छूकर याचना-भरी दृष्टि से दादी अम्मा को बिछुरती आँखों से देखने लगी। बहू को रोते देख अम्मा की आँखों में क्षण-भर को संतोष झलका, फिर वर्षों की लड़ाई-झगड़े का आभास उभरा। द्वार से लगी तीनों पोतों की बहुएँ खड़ी थीं। मेहराँ ने हाथ से संकेत किया। बारी-बारी दादी अम्मा के निकट तीनों झुकीं। अम्मा की पुतलियों में जीवन-भर का मोह उतर गया। मेहराँ से उलझा कड़वापन ढीला हो गया। चाहा कि कुछ कहे... कुछ... पर छूटते तन से दादी अम्मा ओंठों पर कोई शब्द नहीं खींच पायी।

"अम्मा, बहुओं को आशीष देती जाओ...।" मेहराँ के गीले कंठ में आग्रह था, विनय थी।

अम्मा ने आँखों के झिलमिलाते परदे में से अपने पूरे परिवार की ओर देखा– बेटा... बहू... पति... पोते-पतोहू... पोतियाँ। छोटी पतोहू की गुलाबी ओढ़नी जैसे दादी के तन-मन पर बिखर गई। उस ओढ़नी से लगे गोरे-गोरे लाल-लाल बच्चे, हँसते-खेलते, भोली किलकारियाँ...।

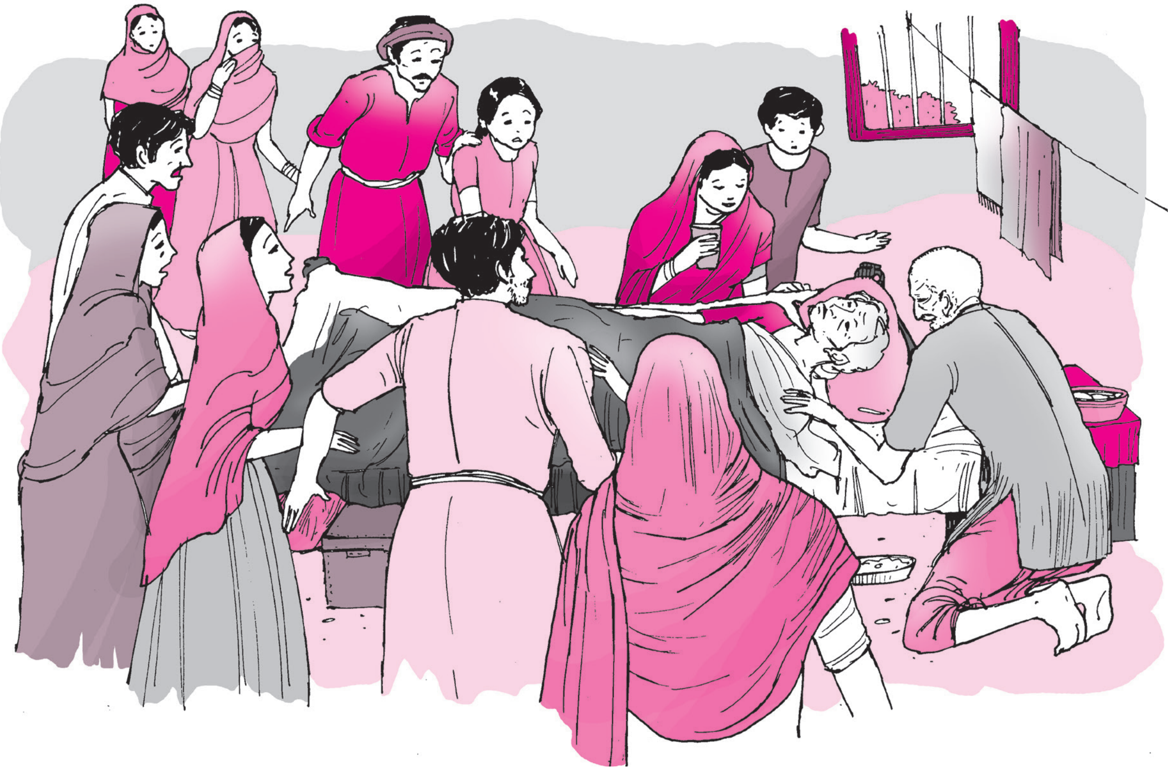

दादी अम्मा की धुँधली आँखों में से और सब मिट गया, सब पुँछ गया, केवल ढेर से अगणित बच्चे खेलते रह गए...!

उसके पोते, उसके बच्चे...।

पिता और पुत्र ने एक साथ देखा, अम्मा जैसे हल्के-से हँसी, हल्के से...।

मेहराँ को लगा, अम्मा बिलकुल वैसे हँस रही है जैसे पहली बार बड़े बेटे के जन्म पर वह उसे देखकर हँसी थी। समझ गई – बहुओं को आशीर्वाद मिल गया।

दादा ने अपने सिकुड़े हाथ में दादी का हाथ लेकर आँखों से लगाया और बच्चों की तरह बिलख-बिलखकर रो पड़े।

रात बीत जाने से पहले दादी अम्मा बीत गई। अपने भरे-पूरे परिवार के बीच वह अपने पति, बेटे और पोतों के हाथों में अंतिम बार घर से उठ गई। दाह-संस्कार हुआ और दादी अम्मा की पुरानी देह फूल हो गई।

देखने-सुनने वाले बोले, "भाग्य हो तो ऐसा, फलता-फूलता परिवार।"

मेहराँ ने उदास-उदास मन से सबके लिए नहाने का सामान जुटाया। घर-बाहर धुलाया। नाते-रिश्तेदार, पास-पड़ोसी अब तक लौट गए थे। मौत के बाद रूखी सहमी-सी दुपहर। अनचाहे मन से कुछ खा-पीकर घरवाले चुपचाप खाली हो बैठे। अम्मा चली गई, पर परिवार भरा-पूरा है। पोते थककर अपने-अपने कमरों मे जा लेटे। बहुएँ उठने से पहले सास की आज्ञा पाने को बैठी रहीं। दादी अम्मा का बेटा निढाल होकर कमरे में जा लेटा। अम्मा की खाली कोठरी का ध्यान आते ही मन बह आया। कल तक अम्मा थी तो सही उसी कोठरी में। रुआँसी आँखें बरसकर झुक आयीं तो सपने में देखा, नदी-किनारे घाट पर अम्मा खड़ी है। अपनी चिता को जलते देख कहती है, 'जाओ बेटा, दिन ढलने को आया, अब घर लौट चलो, बहू राह देख रही होगी। ज़रा सँभलकर जाना। बहू से कहना, बेटियों को अच्छे ठिकाने लगाए।'

दृश्य बदला। अम्मा द्वार पर खड़ी है। झाँककर उसकी ओर देखती है, 'बेटा, अच्छी तरह कपड़ा ओढ़कर सोओ। हाँ बेटा, उठो तो! कोठरी में बापू को मिल आओ, यह बिछोह उनसे न झेला जाएगा। बेटा, बापू को देखते रहना। तुम्हारे बापू ने मेरा हाथ पकड़ा था, उसे अंत तक निभाया, पर मैं ही छोड़ चली।'

बेटे ने हड़बड़ाकर आँखें खोलीं। कई क्षण द्वार की ओर देखते रह गए। अब कहाँ आयेंगी अम्मा इस देहरी पर...।

बिना आहट किए मेहराँ आयी। रोशनी की। चेहरे पर अम्मा की याद नहीं, अम्मा का दुख था। पति को देखकर ज़रा-सी रोयी और बोली, "जाकर ससुर जी को तो देखो। पानी तक मुँह से नहीं लगाया।"

पति खिड़की में से कहीं दूर देखते रहे। जैसे देखने के साथ कुछ सुन रहे हों– 'बेटा, बापू को देखते रहना, तुम्हारे बापू ने तो अंत तक संग निभाया, पर मैं ही छोड़ चली।'

"उठो।" मेहराँ कपड़ा खींचकर पति के पीछे हो ली। अम्मा की कोठरी में अँधेरा था। बापू उसी कोठरी के कोने में अपनी चारपाई पर बैठे थे। नज़र दादी अम्मा की चारपाई वाली खाली जगह पर गड़ी थी। बेटे को आया जान हिले नहीं।

"बापू, उठो, चलकर बच्चों में बैठो, जी सँभलेगा।"

बापू ने सिर हिला दिया।

मेहराँ और बेटे की बात बापू को मानो सुनायी नहीं दी। पत्थर की तरह बिना हिले-डुले बैठे रहे। बहू-बेटा, बेटे की माँ... खाली दीवारों पर अम्मा की तस्वीरें ऊपर-नीचे होती रहीं। द्वार पर अम्मा घूँघट निकाले खड़ी है। बापू को अंदर आते देख शरमाती है और

बुआ की ओट हो जाती है। बुआ स्नेह से हँसती है। पीठ पर हाथ फेरकर कहती है, 'बहू, मेरे बेटे से कब तक शरमाओगी?'

अम्मा बेटे को गोद में लिए दूध पिला रही है। बापू घूम-फिरकर पास आ खड़े होते हैं। तेवर चढ़े। तीखे बालों को फीका बनाकर कहते हैं, 'मेरी देख-रेख अब सब भूल गई हो। मेरे कपड़े कहाँ डाल दिए?' अम्मा बेटे के सिर को सहलाते-सहलाते मुस्कुराती है। फिर बापू की आँखों में भरपूर देखकर कहती है, 'अपने ही बेटे से प्यार का बँटवारा कर झुँझलाने लगे!'

बापू इस बार झुँझलाते नहीं, झिझकते हैं, फिर एकाएक दूध पीते बेटे को अम्मा से लेकर चूम लेते हैं। मुन्ने के पतले नर्म होंठों पर दूध की बूँद अब भी चमक रही है। बापू अँधेरे में अपनी आँखों पर हाथ फेरते हैं। हाथ गीले हो जाते हैं। उनके बेटे की माँ आज नहीं रही।

तीनों बेटे दबे पाँवों जाकर दादा को झाँक आये। बहुएँ सास की आज्ञा पा अपने-अपने कमरों में जा लेटीं। बेटियों को सोता जान मेहराँ पति के पास आयी तो सिर दबाते-दबाते प्यार से बोली, "अब हौसला करो"...लेकिन एकाएक किसी की गहरी सिसकी सुन चौंक पड़ी। पति पर झुककर बोली– "बापू की आवाज़ लगती है, देखो तो।"

बेटे ने जाकर बाहरवाला द्वार खोला, पीपल से लगी झुकी-सी छाया। बेटे ने कहना चाहा, 'बापू'! पर बैठे गले से आवाज़ निकली नहीं। हवा में पत्ते खड़खड़ाये, टहनियाँ हिलीं और बापू खड़े-खड़े सिसकते रहे।

"बापू!"

इस बार बापू के कानों में बड़े पोते की आवाज़ आयी। सिर ऊँचा किया, तो तीनों बेटों के साथ देहरी पर झुकी मेहराँ दीख पड़ी। आँसुओं के गीले पूर में से धुंध बह गई। मेहराँ अब घर की बहू नहीं, घर की अम्मा लगती है, बड़े बेटे का हाथ पकड़कर बापू के निकट आयी। झुककर गहरे स्नेह से बोली, "बापू, अपने इन बेटों की ओर देखो, यह सब अम्मा का ही तो प्रताप है। महीने भर के बाद बड़ी बहू की झोली भरेगी, अम्मा का परिवार और फूले-फलेगा।"

बापू ने इस बार सिसकी नहीं भरी। आँसुओं को खुले बह जाने दिया। पेड़ के कड़े तने से हाथ उठाते-उठाते सोचा– दूर तक धरती में बैठी अगणित जड़ें अंदर ही अंदर इस बड़े पुराने पीपल को थामे हुए हैं। दादी अम्मा इसे नित्य पानी दिया करती थी। आज वह भी धरती में समा गई है। उसके तन से ही तो बेटे-पोते का यह परिवार फैला है। पीपल की

घनी छाँह की तरह यह और फैलेगा। बहू सच कहती है। यह सब अम्मा का ही प्रताप है। वह मरी नहीं। वह तो अपनी देह पर के कपड़े बदल गई है, अब वह बहू में जीएगी, फिर बहू की बहू में...।

संवाद

1. आपके परिवार में कितने सदस्य हैं? क्या आप अपने परिवार के सभी सदस्यों को बराबर समय देते हैं?
2. आप मेहराँ के स्थान पर होते तो ऐसी परिस्थिति में क्या करते?

दादी माँ

शिवप्रसाद सिंह

'दादी माँ' शिवप्रसाद सिंह की प्रसिद्ध कहानी है। अपनी संतानों के सुख और स्वस्ति की कामना में अपने को न्योछावर कर देना प्रत्येक दादी माँ के लिए सहज है। इस कहानी में भी बुखार में तपते पोते के लिए हर जतन करतीं, पड़ोसियों की मदद करतीं, परिवार पर आर्थिक विपत्ति के समय पति की आखिरी निशानी (कंगन) भी दे रहीं दादी वस्तुत: परिवार संस्था और रिश्तेदारी के महत्व की गाथा हैं। हमारी संस्कृति में त्याग का भारी महात्म्य माना गया है और दादी माँ उसी की प्रतिमूर्ति हैं।

कमज़ोरी ही है अपनी, पर सच तो यह है कि ज़रा-सी कठिनाई पड़ते, बीसों गरमी, बरसात और बसंत देखते के बाद भी मेरा मन सदा नहीं तो प्राय: अनमना-सा हो जाता है। मेरे शुभचिंतक मित्र मुँह पर मुझे प्रसन्न करने के लिए आनेवाली छुट्टियों की सूचना देते हैं और पीठ पीछे मुझे 'कमज़ोर और ज़रा-सी प्रतिकूलता से घबराने वाला' कहकर मेरा मज़ाक उड़ाते हैं। मैं सोचता हूँ, 'अच्छा अब कभी उन बातों को न सोचूँगा। ठीक है, जाने दो। सोचने से होता ही क्या है?' पर बरबस मेरी आँखों के सामने शरद की शीत किरणों के समान स्वच्छ शीतल किसी की धुँधली छाया नाच उठती है।

मुझे लगता है जैसे क्वार के दिन आ गए हैं। मेरे गाँव के चारों ओर पानी ही पानी हिलोरें ले रहा है। दूर के सिवान से बहकर आए हुए मोथा और साई की अधगली घासें,

घेऊर और वन-प्याज की जड़ें तथा नाना प्रकार की बरसाती घासों के बीज, सूरज की गर्मी में खौलते हुए पानी में सड़कर एक विचित्र गंध छोड़ रहे हैं। रास्तों के कीचड़ सूख गए हैं और गाँव के लड़के किनारों पर झाग भरे जलाशयों में धमाके-से कूद रहे हैं। अपने-अपने मौसम की अपनी-अपनी बातें होती हैं। आषाढ़ में आम और जामुन न मिलें, चिंता नहीं; अगहन में चिउड़ा और गुड़ न मिले, दुःख नहीं; चैत के दिनों में लाई के साथ गुड़ की पट्टी न मिले, अफ़सोस नहीं; पर क्वार के दिनों में इस गंधपूर्ण झाग-भरे जल में कूदना न हो तो बड़ा बुरा मालूम होता है। मैं भीतर हुड़क रहा था। दो-एक दिन ही तो कूद सका था, नहा-धोकर बीमार हो गया। हल्की बीमारी न जाने क्यों मुझे अच्छी लगती है। थोड़ा-थोड़ा ज्वर हो, सर में साधारण दर्द और खाने के लिए दिन-भर नींबू और साबू। लेकिन उस बार ऐसी चीज़ नहीं थी। ज्वर जो चढ़ा तो चढ़ता ही गया। रज़ाई पर रज़ाई– और उतरा रात बारह बजे के बाद। दिन में मैं चादर लपेटे सोया था। दादी माँ आयीं, शायद नहाकर आयी थीं, उसी झाग वाले जल में। पतले-दुबले स्नेह-सने शरीर पर सफेद किनारीहीन धोती, सन-से सफेद बालों के सिरों पर सद्य: टपके हुए जल की शीतलता। आते ही उन्होंने सिर, हाथ, पेट छुए। बहुत ही धीरे-से बुदबुदाकर कुछ बोलीं, शायद किसी देवी-देवता को जान के बदले जान देने की मिन्नत रही हो। फिर आँचल की गाँठ खोल किसी अदृश्य शक्तिधारी के चबूतरे की मिट्टी मुँह में डाली, माथे पर लगायी। दिन-रात चारपाई के पास बैठी रहतीं, कभी पंखा झलतीं, कभी जलते हुए हाथ-पैर कपड़े से सहलातीं, सर पर दालचीनी का लेप करतीं, और बीसों बार सर छू-छूकर ज्वर का अनुमान करतीं। नयी हाँड़ी में पानी आया कि नहीं? उसे पीपल की छाल से छौंका कि नहीं? खिचड़ी में मूँग की दाल एकदम मिल तो गई है? कोई बीमार के घर में सीधे बाहर से आकर तो नहीं चला गया आदि लाखों प्रश्न पूछ-

पूछकर घरवालों को परेशान कर देतीं। दादी माँ को गँवई-गाँव की पचासों किस्म की दवाओं के नाम याद थे। गाँव में कोई बीमार होता, उसके पास पहुँचतीं और वहाँ भी वही काम। हाथ छूना, माथा छूना, पेट छूना। फिर नज़र, टोना, भूत से लेकर मलेरिया, सरसाम, निमोनिया तक का अनुमान वे विश्वास के साथ सुनातीं। महामारी और विशूचिका के दिनों में रोज़ सवेरे उठकर, स्नान के बाद, लवंग और गुड़ मिश्रित जलधार, गुग्गुल और धूप, टोना-टोटका और सफ़ाई कोई उनसे सीख ले। दवा में देर होती, मिश्री या शहद खत्म हो जाता, चादर या गिलाफ़ नहीं बदले जाते, तो वे जैसे पागल हो जातीं। बुखार तो मुझे अब भी आता है। नौकर पानी दे जाता है, मेस-महाराज अपने मन से पकाकर खिचड़ी या साबू। डॉक्टर साहब आकर नाड़ी देख जाते हैं, और कुनैन मिक्सचर की शीशी की तिताई के डर से बुखार भाग भी जाता है, पर न जाने क्यों ऐसे बुखार को बुलाने का जी नहीं होता।

किशन भैया की शादी ठीक हुई, दादी माँ के उत्साह और आनंद का क्या कहना! दिन-भर गायब रहतीं। सारा घर जैसे उन्होंने सर पर उठा लिया हो। पड़ोसिनें आतीं, हुक्का चढ़ता। बहुत बुलाने पर दादी माँ आतीं, “बहिन, बुरा न मानना। कार-परोजन का घर ठहरा! एक काम अपने हाथ से न करूँ, तो होने वाला नहीं।” जानने को यों सभी जानते थे कि दादी माँ कुछ करतीं नहीं। पर किसी काम में उनकी अनुपस्थिति वस्तुत: विलंब का कारण बन जाती। उन्हीं दिनों की बात है। एक दिन दोपहर को मैं घर लौटा। बाहर निकसार में दादी माँ किसी पर बिगड़ रही थीं। देखा पास के कोने में दुबकी रामी की चाची खड़ी है।

"सो न होगा धन्नो! रुपये मय सूद के आज दे दे। तेरी आँख में तो शरम है नहीं। माँगने के समय कैसी आयी थी। पैरों पर नाक रगड़ती फिरी, किसी ने एक पाई भी न दी। अब लगी है आज कल करने– फसल में दूँगी, फसल में दूँगी। अब क्या तेरी खातिर दूसरी फसल कटेगी?"

"दूँगी, मालकिन!" रामी की चाची रोती हुई, दोनों हाथों से आँचल पकड़े दादी माँ के पैरों की ओर झुकी, "बिटिया की शादी है। आप न दया करेंगी तो उस बेचारी का निस्तार कैसे होगा!"

"हट, हट, पैर न छू। अभी नहा के आ रही हूँ।" दादी माँ पीछे हट गईं।

"जाने दो दादी।" मैंने इस अप्रिय प्रसंग को हटाने की गरज से कहा, "बेचारी गरीब है, दे देगी कभी।"

"चल, चल, चला है समझाने...।"

मैं चुपके-से आँगन की ओर चला गया। कई दिन बीत गए, मैं इस प्रसंग को एकदम भूल-सा गया। एक दिन रास्ते में रामी की चाची मिली। वह दादी को 'पूतों फलो दूधों नहाओ' का आशीर्वाद दे रही थी। मैंने पूछा, "क्या बात है धन्नो चाची?", तो उसने विह्वल होकर कहा,"उरिन हो गई बेटा, बेटी की शादी तो रिन ही है न। भगवान भला करे हमारी मालकिन का। कल ही आयी थीं। पीछे का सभी रुपया छोड़ दिया, ऊपर से दस रुपये का नोट देकर बोलीं,'देखना धन्नो, जैसी तेरी बेटी वैसी मेरी, दस-पाँच के लिए हँसाई न हो।' देवता हैं बेटा देवता।"

"उस रोज़ तो बहुत डाँट रही थीं?" मैंने पूछा।

"वह तो बड़े लोगों का काम है बाबू। रुपया देकर डाँटें भी न तो लाभ क्या!"

मैं मन-ही-मन इस तर्क पर हँसता हुआ आगे बढ़ गया।

किशन के विवाह के दिनों की बात है। विवाह के चार-पाँच रोज़ पहले से ही औरतें रात-रात भर गीत गाती हैं। विवाह की रात को अभिनय भी होता है। यह प्राय: एक ही कथा का हुआ करता है। उसमें विवाह से लेकर पुत्रोत्पत्ति तक के सभी दृश्य दिखाये जाते हैं, सभी पार्ट औरतें ही करती हैं। मैं बीमार होने के कारण बरात में न जा सका। मेरा ममेरा भाई राघव दालान में सो रहा था। (वह भी बरात जाने के बाद पहुँचा था) औरतों ने उस पर आपत्ति की।

दादी माँ बिगड़ीं, "लड़के से क्या परदा! लड़का और बरह्मा का मन एक-सा होता है।"

"शादी हुई होती, तो एक साल में लड़का हुआ होता। अभी बने हैं बच्चे।" देबू की माँ बोलीं। वे बड़ी शरारती और चुहलबाज़ थीं। रिश्ते में हम लोगों की भाभी लगती थीं। मुझे भी पास ही एक चारपाई पर चादर उढ़ाकर दादी माँ ने चुपके से सुला दिया था। बड़ी हँसी आ रही थी। सोचा, कहीं ज़ोर से हँस दूँ, भेद खुल जाए तो निकाल बाहर किया जाऊँगा, पर भाभी की बात पर हँसी रुक न सकी और भंडाफोड़ हो गया।

"यह न लो।" देबू की माँ ने चादर खींच ली– "कहो दादी, यह कौन बच्चा सोया है? बेचारा रोता है शायद, दूध तो पिला दूँ।" हाथापाई शुरू हुई। दादी माँ बिगड़ीं, "लड़के से क्यों लगती है!"

"तो बनें यही औरत, इन्हीं को बच्चा पैदा हो। खूब सी-सी करें। मैं तो नहीं बनती।"

मैं वहाँ से हँसता हुआ भागा। सुबह रास्ते में देबू की माँ मिलीं– "कल वाला बच्चा भाभी।" मैं वहाँ से ज़ोर से भागा और दादी माँ के पास जा खड़ा हुआ। वस्तुत: किसी प्रकार के अपराध हो जाने पर जब हम दादी माँ की छाया में खड़े हो जाते, अभयदान मिल जाता।

स्नेह और ममता की मूर्ति दादी माँ की एक-एक बात आज कैसी-कैसी मालूम होती है। परिस्थितियों का वात्याचक्र जीवन को सूखे पत्ते-सा कैसा नचाता है, इसे दादी माँ खूब जानती थीं। दादा की मृत्यु के बाद से ही वे बहुत उदास रहतीं। संसार उन्हें धोखे की टट्टी मालूम होता। दादा ने उन्हें स्वयं जो धोखा दिया। वे सदा उन्हें आगे भेजकर अपने पीछे जाने की झूठी बात कहा करते थे। दादा की मृत्यु के बाद, कुकुरमुत्ते की तरह बढ़ने वाले, मुँह में राम बगल में छुरी वाले दोस्तों की शुभचिंता ने स्थिति और भी डाँवाँडोल कर दी। दादा के श्राद्ध में दादी माँ के मना करने पर भी पिताजी ने जो अतुल संपत्ति व्यय की, वह घर की तो थी नहीं।

दादी माँ अकसर उदास रहा करतीं। माघ के दिन थे। कड़ाके का जाड़ा पड़ रहा था। पछुवा का सन्नाटा और पाले की शीत हड्डियों में घुसी पड़ती। शाम को मैंने देखा, दादी माँ गीली धोती पहने, कोने वाले घर में एक संदूक पर दिया जलाये, हाथ जोड़कर बैठी हैं। उनकी स्नेह-कातर आँखों में मैंने आँसू कभी नहीं देखे थे। मैं बहुत देर तक मन मारे उनके पास बैठा रहा; उन्होंने आँखें खोलीं।

"दादी माँ!" मैंने धीरे से कहा।

"क्या है रे, तू यहाँ क्यों बैठा है?"

"दादी माँ, एक बात पूछूँ, बताओगी न?" मैंने उनकी स्नेहपूर्ण आँखों की ओर देखा।

"क्या है, पूछ।"

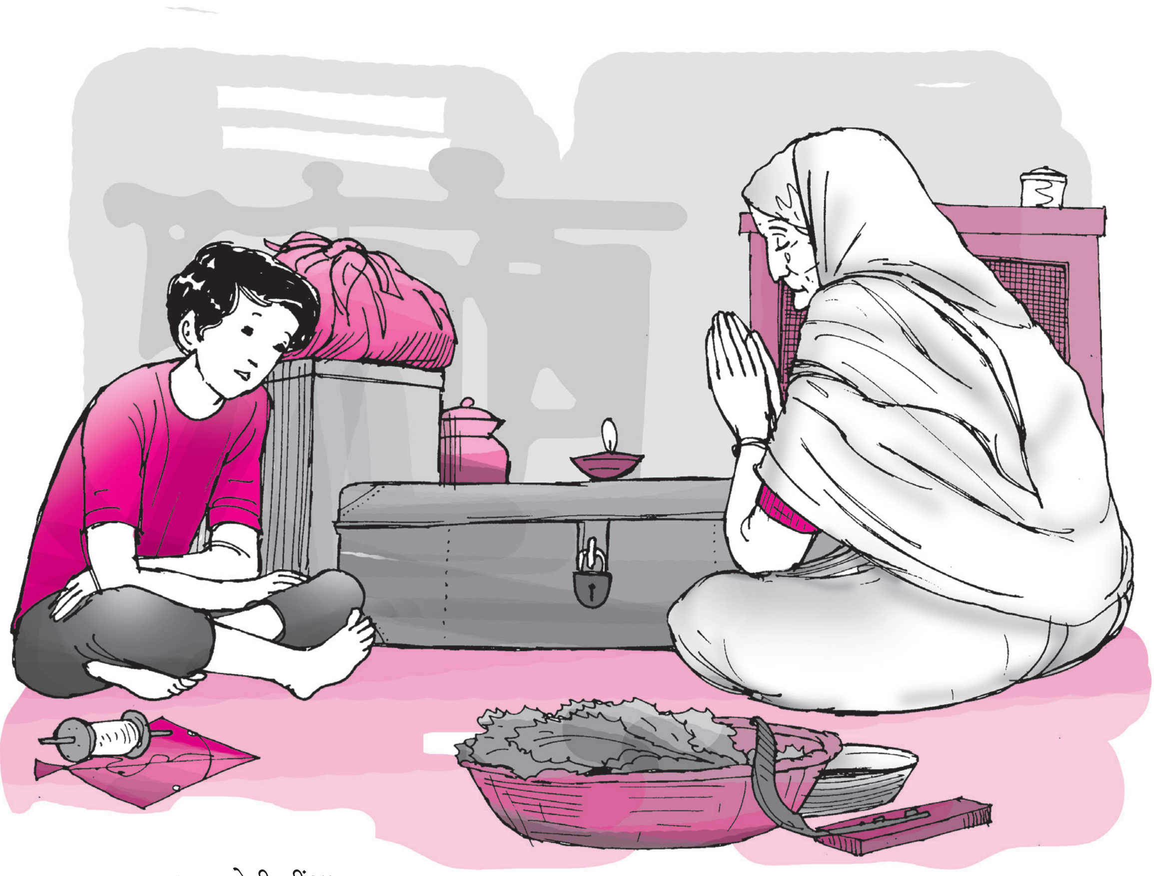

"तुम रोती थीं?"

दादी माँ मुस्कुरायीं, "पागल, तूने अभी खाना भी नहीं खाया न, चल-चल!"

"धोती तो बदल लो, दादी माँ" मैंने कहा।

"मुझे सरदी-गरमी नहीं लगती, बेटा" वे मुझे खींचती रसोई में ले गईं।

सुबह मैंने देखा चारपाई पर बैठे पिताजी और किशन भैया मन मारे कुछ सोच रहे हैं। "दूसरा चारा ही क्या है," बाबू बोले, "रुपया कोई देता नहीं। कितने के तो अभी पिछले भी बाकी हैं!" वे रोने-रोने से हो गए।

"रोता क्यों है रे?" दादी माँ ने उनका माथा सहलाते हुए कहा,"मैं तो अभी हूँ ही।" उन्होंने संदूक खोलकर एक चमकती-सी चीज़ निकाली, "तेरे दादा ने यह कंगन मुझे इसी दिन के लिए पहनाया था।" उनका गला भर आया,"मैंने इसे पहना नहीं, इसे सहेज कर रखती आयी हूँ। यह उनके वंश की निशानी है।" उन्होंने आँसू पोंछकर कहा,"पुराने लोग आगा-पीछा सब सोच लेते थे, बेटा।"

सचमुच मुझे दादी माँ शापभ्रष्ट देवी-सी लगीं।

धुँधली छाया विलीन हो गई। मैंने देखा दिन काफ़ी चढ़ आया है। पास के लंबे खजूर के पेड़ से उड़कर एक कौआ, अपनी घिनौनी काली पाँखें फैलाकर मेरी खिड़की पर बैठ गया। हाथ में अब भी किशन भैया का पत्र काँप रहा है। काली चींटियों-सी कतारें धूमिल हो रही हैं। आँखों पर विश्वास नहीं होता। मन बार-बार अपने से ही पूछ बैठता है, "क्या सचमुच दादी माँ नहीं रहीं?"

संवाद

1. क्या आप हिंदी पंचांग (कैलेंडर) से परिचित हैं? हिंदी पंचांग में माह के विवरण को देखें?
2. आपको दादी माँ के साथ बितायी बचपन की कौन-सी बातें याद आती हैं?

अकेली

मन्नू भंडारी

मन्नू भंडारी की कहानी 'अकेली' एक प्रौढ़ परित्यक्ता सोमा बुआ के एकाकीपन और उपेक्षित जीवन को बताती है। उनके युवा बेटे की मृत्यु के बाद पति तीरथवासी हो गए जो साल में एकाध बार आ जाते हैं, किंतु उन्हें कोई लगाव या स्नेह नहीं है। सूख चुके संबंधों के बीच सोमा बुआ पास-पड़ोस तथा रिश्तेदारों के सामाजिक कार्यों में अपना मन लगाती हैं, किंतु वे वहाँ भी असफल हैं। अकेली स्त्री के मनोभावों और सामाजिक स्थितियों के बीच टकराव की यह कहानी एक युग का सत्य उपस्थित करने में सफल है।

सोमा बुआ बुढ़िया हैं।
सोमा बुआ परित्यक्ता हैं।
सोमा बुआ अकेली हैं।

सोमा बुआ का जवान बेटा क्या जाता रहा, उनकी अपनी जवानी चली गई। पति को पुत्र-वियोग का ऐसा सदमा लगा कि वे पत्नी, घर-बार तजकर तीरथवासी हुए और परिवार में कोई ऐसा सदस्य नहीं था जो उनके एकाकीपन को दूर करता। पिछले बीस वर्षों से उनके जीवन की इस एकरसता में किसी प्रकार का कोई व्यवधान उपस्थित नहीं हुआ, कोई परिवर्तन नहीं आया। यों हर साल एक महीने के लिए उनके पति उनके पास आकर रहते थे, पर कभी उन्होंने पति की प्रतीक्षा नहीं की, उनकी राह में आँखें नहीं बिछायीं। जब

तक पति रहते, उनका मन और भी मुरझाया हुआ रहता, क्योंकि पति के स्नेहहीन व्यवहार का अंकुश उनके रोज़मर्रा के जीवन की अबाध गति से बहती स्वच्छंद धारा को कुंठित कर देता। उस समय उनका घूमना-फिरना, मिलना-जुलना बंद हो जाता और संन्यासी जी महाराज से यह भी नहीं होता कि दो मीठे बोल बोलकर सोमा बुआ को एक ऐसा संबल ही पकड़ा दें, जिसका आसरा लेकर वह उनके वियोग के ग्यारह महीने काट दें। इस स्थिति में बुआ को अपनी ज़िंदगी पास-पड़ोसवालों के भरोसे ही काटनी पड़ती थी। किसी के घर मुंडन हो, छठी हो, जनेऊ हो, शादी हो या गमी, बुआ पहुँच जातीं और फिर छाती फाड़कर काम करतीं, मानो वे दूसरे के घर में नहीं, अपने ही घर में काम कर रही हों।

आजकल सोमा बुआ के पति आये हुए हैं और अभी-अभी कुछ कहा-सुनी हो चुकी है। बुआ आँगन में बैठी धूप खा रही हैं, पास रखी कटोरी से तेल लेकर हाथों में मल रही हैं और बड़बड़ा रही हैं। इस एक महीने में अन्य अवयवों के शिथिल हो जाने के कारण उनकी जीभ ही सबसे अधिक सजीव और सक्रिय हो उठती है। तभी हाथ में एक फटी साड़ी और पापड़ लेकर ऊपर से राधा भाभी उतरीं।

"क्या हो गया बुआ, क्यों बड़बड़ा रही हो? फिर संन्यासी जी महाराज ने कुछ कह दिया क्या?"

"अरे, मैं कहीं चली जाऊँ सो ही इन्हें नहीं सुहाता। कल चौकवाले किशोरीलाल के बेटे का मुंडन था, सारी बिरादरी का न्यौता था। मैं तो जानती थी कि ये पैसे का गरूर है कि मुंडन पर सारी बिरादरी को न्यौता है, पर काम उन नयी-नवेली बहुओं से सँभलेगा नहीं, सो जल्दी ही चली गई। हुआ भी वही।" और सरककर बुआ ने राधा के हाथ से पापड़ लेकर सुखाने शुरू कर दिए। "एक काम गत से नहीं हो रहा था। अब घर में कोई बड़ा-बूढ़ा हो तो बतावे, या कभी किया हो तो जानें। गीतवाली औरतें मुंडन पर बन्ना-बन्नी गा रही थीं, मेरा तो हँसते-हँसते पेट फूल गया।" और उसकी याद से ही कुछ देर पहले का दुख और आक्रोश धुल गया। अपने सहज स्वाभाविक रूप में वे कहने लगीं, "भट्टी पर देखो तो अजब तमाशा– समोसे कच्चे ही उतार दिए और इतने बना दिए कि दो बार खिला दो और गुलाब जामुन इतने कम कि एक पंगत में भी पूरे न पड़ें। उसी समय खोया मँगाकर नये गुलाब जामुन बनाये। दोनों बहुएँ और किशोरीलाल तो बेचारे इतना जस मान रहे थे कि क्या बताऊँ? कहने लगे, 'अम्मा! तुम न होती तो आज भद्द उड़ आती। अम्मा! तुमने लाज रख ली!' मैंने तो कह दिया कि अरे, अपने ही काम नहीं आवेंगे तो कोई बाहर से तो आवेगा नहीं। यह तो आजकल इनका रोटी-पानी का काम रहता है, नहीं तो मैं सवेरे से ही चली आती!"

"तो संन्यासी महाराज क्यों बिगड़ पड़े? उन्हें तुम्हारा आना-जाना अच्छा नहीं लगता बुआ!"

"यों तो मैं कहीं आऊँ-जाऊँ सो ही इन्हें नहीं सुहाता, और फिर कल किशोरी के यहाँ से बुलावा नहीं आया। अरे, मैं तो कहूँ कि घरवालों का कैसा बुलावा? वे लोग तो मुझे अपनी माँ से कम नहीं समझते, नहीं तो कौन भला यों भट्टी और भंडार घर सौंप दे? पर उन्हें अब कौन समझावे। कहने लगे, तू जबर्दस्ती दूसरों के घर में टाँग अड़ाती फिरती है।" और एकाएक उन्हें उस क्रोध-भरी वाणी और कटुवचनों का स्मरण हो आया, जिनकी बौछार कुछ देर पहले ही उन पर हो चुकी थी। याद आते ही फिर उनके आँसू बह चले।

"अरे, रोती क्या हो बुआ? कहना-सुनना तो चलता ही रहता है। संन्यासी जी महाराज एक महीने को तो आकर रहते हैं, सुन लिया करो और क्या?"

"सुनने को तो सुनती ही हूँ, पर मन तो दुखता ही है कि एक महीने को आते हैं तो भी कभी मीठे बोल नहीं बोलते। मेरा आना-जाना इन्हें सुहाता नहीं, सो तू ही बता राधा, ये तो साल में ग्यारह महीने हरिद्वार रहते हैं। इन्हें तो नाते-रिश्तेवालों से कुछ लेना-देना नहीं, पर मुझे तो सबसे निभाना पड़ता है। मैं भी सबसे तोड़-ताड़ कर बैठ जाऊँ तो कैसे चले, मैं

तो इनसे कहती हूँ कि जब पल्ला पकड़ा है तो अंत समय में भी साथ रखो, सो तो इनसे होता नहीं। सारा धरम-करम ये ही लूटेंगे, सारा जस ये ही बटोरेंगे और मैं अकेली पड़ी-पड़ी यहाँ इनके नाम को रोया करूँ। उस पर से कहीं आऊँ-जाऊँ तो वह भी इनसे बर्दाश्त नहीं होता...'' और बुआ फूट-फूटकर रो पड़ीं।

राधा ने आश्वासन देते हुए कहा– ''रोओ नहीं बुआ, अरे वे तो इसलिए नाराज हुए कि बिना बुलाए तुम चली गईं।''

''बेचारे इतने हंगामे में बुलाना भूल गए तो मैं भी मान करके बैठ जाती? फिर घरवालों का कैसा बुलाना? मैं तो अपनेपन की बात जानती हूँ। कोई प्रेम नहीं रखे तो दस बुलावे पर नहीं जाऊँ और प्रेम रखे तो बिना बुलाये भी सिर के बल जाऊँ। मेरा अपना हरखू होता और उसके घर काम होता तो क्या मैं बुलावे के भरोसे बैठी रहती? मेरे लिए जैसा हरखू वैसा किशोरीलाल! आज हरखू नहीं है, इसी से दूसरों को देख-देखकर मन भरमाती रहती हूँ!'' और वे हिचकियाँ लेने लगीं।

सूखे पापड़ों को बटोरते-बटोरते स्वर को भरसक कोमल बनाकर राधा ने कहा, ''तुम भी बुआ बात को कहाँ-से-कहाँ ले गईं! लो, अब चुप भी होओ, पापड़ भूनकर लाती हूँ, खाकर बताना, कैसा है?'' और वह साड़ी समेटकर ऊपर चढ़ गई।

कोई सप्ताह-भर बाद बुआ बड़े प्रसन्न मन से आयीं और संन्यासी जी से बोलीं, ''सुनते हो, देवरजी के ससुरालवालों की किसी लड़की का संबंध भागीरथ जी के यहाँ हुआ है। वे सब लोग यहीं आकर ब्याह कर रहे हैं। देवर जी के बाद तो उन लोगों से कोई संबंध ही नहीं रहा, फिर भी हैं तो समधी ही। वे तो तुमको भी बुलाये बिना नहीं मानेंगे। समधी को आखिर कैसे छोड़ सकते हैं?'' और बुआ पुलकित होकर हँस पड़ीं। संन्यासी जी की मौन उपेक्षा से उनके मन को ठेस तो पहुँची, फिर भी वे प्रसन्न थीं। इधर-उधर जाकर वे इस विवाह की प्रगति की खबरें लातीं! आखिर एक दिन वे यह भी सुन आयीं कि उनके समधी यहाँ आ गए। ज़ोर-शोर से तैयारियाँ हो रही हैं। सारी बिरादरी को दावत दी जायेगी– खूब रौनक होनेवाली है। दोनों ही पैसेवाले ठहरे।

''क्या जाने हमारे घर तो बुलावा आयेगा या नहीं? देवरजी को मरे पच्चीस बरस हो गए, उसके बाद से तो कोई संबंध ही नहीं रखा। रखे भी कौन? यह काम तो मर्दों का होता है, मैं तो मर्दवाली होकर भी बेमर्द की हूँ।'' और एक ठंडी साँस उनके दिल से निकल गई।

"अरे, वाह बुआ! तुम्हारा नाम कैसे नहीं हो सकता। तुम तो समधिन ठहरीं। संबंध में न रहे, कोई रिश्ता थोड़े ही टूट जाता है!" दाल पीसती हुई घर की बड़ी बहू बोली।

"है, बुआ, नाम है। मैं तो सारी लिस्ट देखकर आयी हूँ।" विधवा ननद बोली। बैठे-ही-बैठे एकदम आगे सरककर बुआ ने बड़े उत्साह से पूछा– "तू अपनी आँखों से देखकर आयी है नाम? नाम तो होना ही चाहिए। पर मैंने सोचा कि क्या जाने, आजकल के फैशन में पुराने संबंधियों को बुलाना हो, न हो।" और बुआ बिना दो पल भी रुके वहाँ से चल पड़ीं। अपने घर जाकर सीधे राधा भाभी के कमरे में चढ़ीं– "क्यों री राधा, तू तो जानती है कि नये फैशन में लड़की की शादी में क्या दिया जावे है? समधियों का मामला ठहरा, सो भी पैसेवाले। खाली हाथ जाऊँगी तो अच्छा नहीं लगेगा। मैं तो पुराने ज़माने की ठहरी, तू ही बता दे, क्या दूँ? अब कुछ बनाने का समय तो रहा नहीं, दो दिन बाकी हैं, सो कुछ बना-बनाया ही खरीद लाना।"

"क्या देना चाहती हो अम्मा— जेवर, कपड़ा, शृंगारदान या कोई और चाँदी की चीज़ें?"

"मैं तो कुछ भी नहीं समझूँ री। जो कुछ पास है, तुझे लाकर दे देती हूँ, जो तू ठीक समझे ले आना। बस, भद्द नहीं उड़नी चाहिए! अच्छा, देखूँ पहले कि रुपये कितने हैं?" और वे डगमगाते कदमों से नीचे आयीं। दो-तीन कपड़ों की गठरियाँ हटाकर एक छोटा-सा बक्स निकाला। उसका ताला खोला। इधर-उधर करके एक छोटी-सी डिबिया निकाली। बड़े जतन से उसे खोला– उसमें सात रुपये, कुछ रेज़गारी पड़ी थी और एक अँगूठी। बुआ का अनुमान था कि रुपये कुछ ज़्यादा होंगे, पर जब सात ही रुपये निकले तो सोच में पड़ गईं। रईस समधियों के घर में इतने से रुपयों से तो बिंदी भी नहीं लगेगी। उनकी नज़र अँगूठी पर गई। यह उनके मृत पुत्र की एकमात्र निशानी उनके पास रह गई थी। बड़े-बड़े आर्थिक संकटों के समय भी वे उस अँगूठी का मोह नहीं छोड़ सकी थीं। आज भी एक बार उसे उठाते समय उनका दिल धड़क गया, फिर भी उन्होंने पाँच रुपये और एक अँगूठी आँचल में बाँध ली। बक्स को बंद किया और फिर ऊपर को चलीं, पर इस बार उनके मन का उत्साह कुछ ठंडा पड़ गया था और पैरों की गति शिथिल! राधा के पास जाकर बोलीं– "रुपये तो नहीं निकले बहू। आयें भी कहाँ से, मेरे कौन कमानेवाला बैठा है। उस कोठरी का किराया आता है, उसमें तो दो समय की रोटी निकल जाती है जैसे-तैसे!" और वे रो पड़ीं। राधा ने कहा, "क्या करूँ बुआ, आजकल मेरा भी हाथ तंग है, नहीं तो मैं ही दे देती।

अरे, पर तुम देने के चक्कर में पड़ती ही क्यों हो? आजकल तो देने-लेने का रिवाज ही उठ गया।"

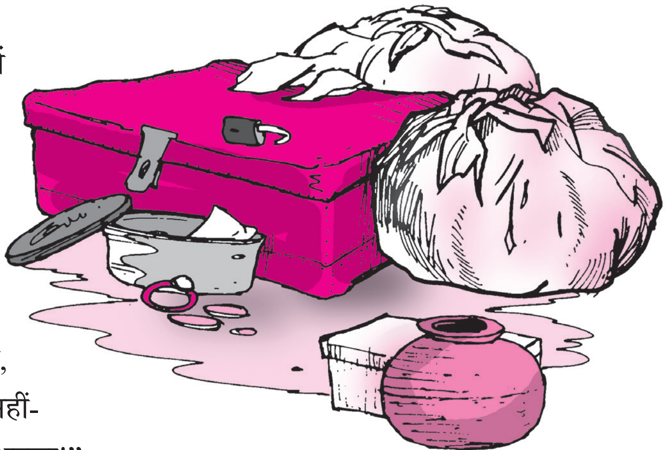

"नहीं रे राधा! समधियों का मामला ठहरा! पच्चीस बरस हो गए तो भी वे नहीं भूले, और मैं खाली हाथ जाऊँ? नहीं-नहीं, इससे तो न जाऊँ सो ही अच्छा!"

"तो जाओ ही मत। चलो छुट्टी हुई, इतने लोगों में किसे पता लगेगा कि आयीं या नहीं।" राधा ने सारी समस्या का सीधा-सा हल बताते हुए कहा।

"बड़ा बुरा मानेंगे। सारे शहर के लोग जावेंगे और मैं समधिन होकर नहीं जाऊँगी तो यही समझेंगे कि देवरजी मरे तो संबंध भी तोड़ लिया। नहीं, नहीं, तू यह अँगूठी बेच ही दे।" और उन्होंने आँचल की गाँठ खोलकर एक पुराने जमाने की अँगूठी राधा के हाथ पर रख दी। फिर बड़ी मिन्नत के स्वर में बोलीं, "तू तो बज़ार जाती है राधा, इसे बेच देना और जो कुछ ठीक समझे खरीद लेना। बस, शोभा रह जावे इतना खयाल रखना।"

गली में बुआ ने चूड़ीवाले की आवाज़ सुनी तो एकाएक ही उनकी नज़र अपने हाथ की भद्दी-मटमैली चूड़ियों पर जाकर टिक गई। कल समधियों के यहाँ जाना है, जेवर नहीं तो कम-से-कम काँच की चूड़ी तो अच्छी पहन ले। पर एक अत्यंत लाज ने उनके कदमों को रोक दिया। कोई देख लेगा तो? लेकिन दूसरे क्षण ही अपनी इस कमज़ोरी पर विजय पाती-सी वे पीछे के दरवाज़े पर पहुँच गईं और एक रुपया कलदार खर्च करके लाल-हरी चूड़ियों के बंद पहन लिए। पर सारे दिन हाथों को साड़ी के आँचल से ढके-ढके फिरीं।

शाम को राधा भाभी ने बुआ को चाँदी की एक सिंदूरदानी, एक साड़ी और एक ब्लाउज का कपड़ा लाकर दे दिया। सब कुछ देख-पाकर बुआ बड़ी प्रसन्न हुईं और यह सोच-सोचकर कि जब वे ये सब दे देंगी तो उनकी समधिन पुरानी बातों की दुहाई दे-देकर उनकी मिलनसारिता की कितनी प्रशंसा करेगी, उनका मन पुलकित होने लगा। अँगूठी बेचने का ग़म भी जाता रहा। पासवाले बनिये के यहाँ से एक आने का पीला रंग लाकर

रात में उन्होंने साड़ी रँगी। शादी में सफ़ेद साड़ी पहनकर जाना क्या अच्छा लगेगा? रात में सोयीं तो मन कल की ओर दौड़ रहा था।

दूसरे दिन नौ बजते-बजते खाने का काम समाप्त कर डाला। अपनी रँगी हुई साड़ी देखी तो कुछ जँची नहीं। फिर ऊपर राधा के पास पहुँची, "क्यों राधा, तू तो रँगी साड़ी पहनती है तो बड़ी आब रहती है, चमक रहती है, इसमें तो चमक आयी नहीं?"

"तुमने कलफ जो नहीं लगाया अम्मा, थोड़ा-सा माँड़ दे देतीं तो अच्छा रहता। अभी दे लो, ठीक हो जायेगी। बुलावा कब का है?"

"अरे, नये फैशनवालों की मत पूछो, ऐन मौकों पर बुलावा आता है। पाँच बजे का मुहूरत है, दिन में कभी भी आ जावेगा।"

राधा भाभी मन-ही-मन मुस्करा उठी।

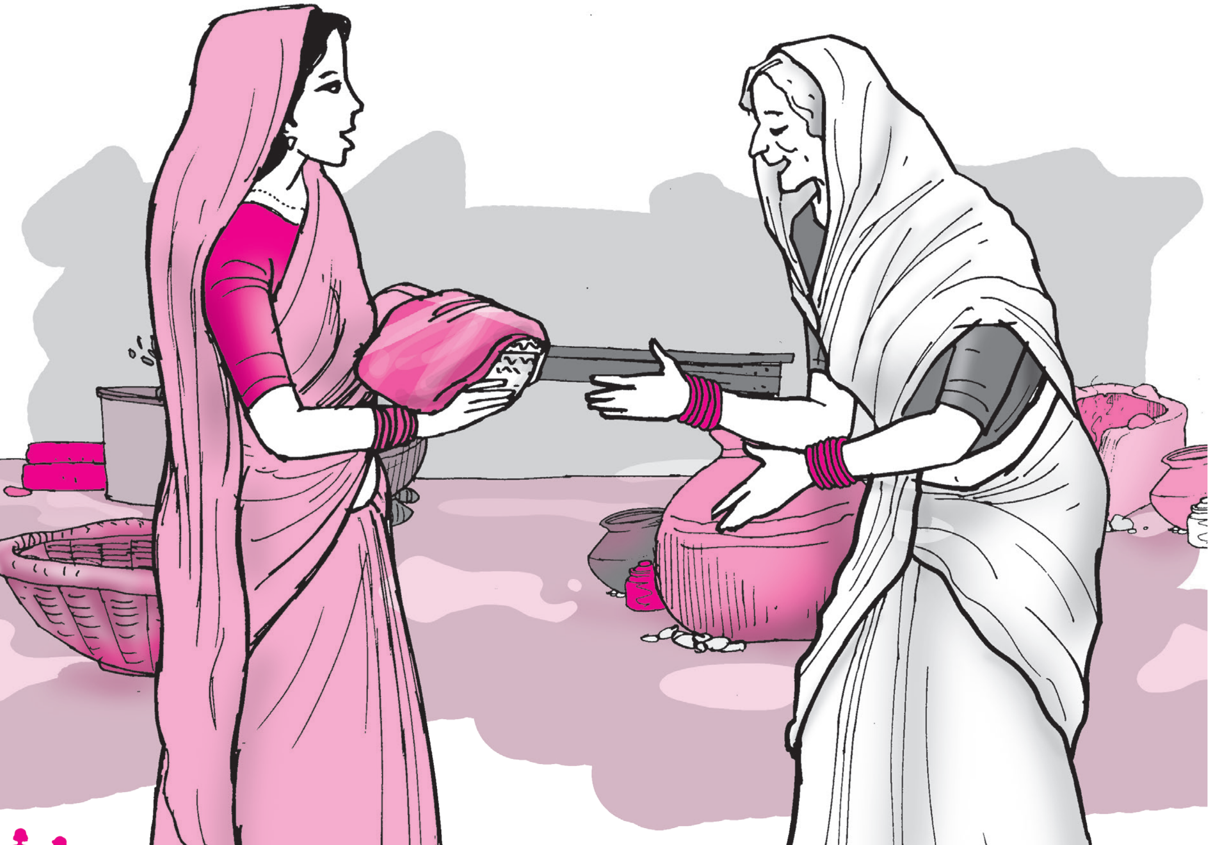

बुआ ने साड़ी में माँड लगाकर सुखा दिया। फिर एक नयी थाली निकाली, अपनी जवानी के दिनों में बुना हुआ क्रोशिए का एक छोटा-सा मेजपोश निकाला। थाली में साड़ी, सिंदूरदानी, एक नारियल और थोड़े-से बताशे सजाये, फिर जाकर राधा को दिखाया। संन्यासी महाराज सवेरे से इस आयोजन को देख रहे थे और उन्होंने कल से लेकर आज तक कोई पच्चीस बार चेतावनी दे दी थी कि यदि कोई बुलाने न आये तो चली मत जाना, नहीं तो ठीक नहीं होगा। हर बार बुआ ने बड़े ही विश्वास के साथ कहा, "मुझे क्या बावली ही समझ रखा है जो बिना बुलाए चली जाऊँगी? अरे वह पड़ोसवालों की नंदा अपनी आँखों से बुलावे की लिस्ट में नाम देखकर आयी है। और बुलाएँगे क्यों नहीं? शहरवालों को बुलाएँगे और समधियों को नहीं बुलाएँगे क्या?"

तीन बजे के करीब बुआ को अनमने भाव से छत पर इधर-उधर घूमते देख राधा भाभी ने आवाज़ लगायी– "गई नहीं बुआ?"

एकाएक चौंकते हुए बुआ ने पूछा– "कितने बज गए राधा?... क्या कहा, तीन? सरदी में तो दिन का पता ही नहीं लगता है। बजे तीन ही हैं और धूप सारी छत पर से ऐसे सिमट गई मानो शाम हो गई हो।" फिर एकाएक जैसे खयाल आया कि यह तो भाभी के प्रश्न का उत्तर नहीं हुआ तो ज़रा ठंडे स्वर में बोलीं, "मुहूरत तो पाँच बजे का है, जाऊँगी तो चार तक जाऊँगी, अभी तो तीन ही बजे हैं।" बड़ी सावधानी से उन्होंने स्वर में लापरवाही का पुट दिया! बुआ छत पर से गली में नज़र फैलाये खड़ी थीं, उनके पीछे ही रस्सी पर धोती फैली हुई थी, जिसमें कलफ़ लगा था और अबरक छिड़का हुआ था। अबरक के बिखरे हुए कण रह-रहकर धूप में चमक जाते थे, ठीक वैसे ही जैसे किसी को भी गली में घुसता देख बुआ का चेहरा चमक उठता था।

सात बजे के धुँधलके में राधा ने ऊपर से देखा तो छत की दीवार से सटी, गली की ओर मुँह किये एक छाया-मूर्ति दिखायी दी। उसका मन भर आया। बिना कुछ पूछे इतना ही कहा, "बुआ! सर्दी में खड़ी-खड़ी यहाँ क्या कर रही हो? आज खाना नहीं बनेगा क्या, सात तो बज गए।"

जैसे एकाएक नींद में से जागते हुए बुआ ने पूछा, "क्या कहा, सात बज गए।" फिर जैसे अपने से ही बोलते हुए पूछा, "पर सात कैसे बज सकते हैं, मुहूरत तो पाँच बजे का था।" और फिर एकाएक ही सारी स्थिति को समझते हुए, स्वर को भरसक संयत बनाकर बोलीं, "अरे, खाने का क्या है अभी बना लूँगी। दो जनों का तो खाना है, क्या खाना और क्या पकाना।"

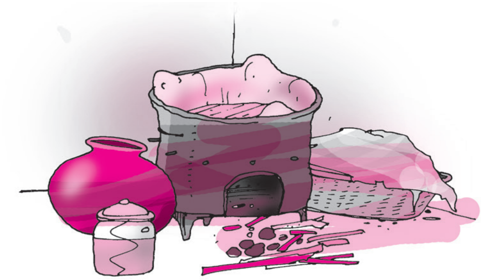

फिर उन्होंने सूखी साड़ी को उतारा। नीचे जाकर अच्छी तरह उसकी तह की, धीरे-धीरे हाथों से चूड़ियाँ खोलीं, थाली में सजाया हुआ सारा सामान उठाया और सारी चीज़ें बड़े जतन से अपने एकमात्र संदूक में रख दीं।

और फिर बड़े ही बुझे हुए दिल से अँगीठी जलाने लगीं।

संवाद

1. क्या आपने अपने आस-पास परित्यक्ता के भाव से जूझती किसी स्त्री को देखा है?
2. क्या आपने कभी कपड़ों की रँगाई का काम देखा है, वह किस प्रकार किसी कपड़े पर रंग चढ़ाते हैं? उनके श्रम और संघर्ष पर चर्चा कीजिए।

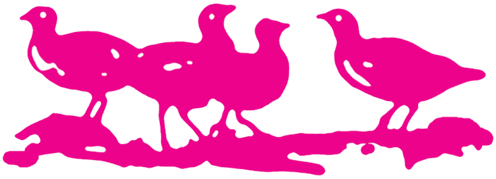

नीली झील

कमलेश्वर

कमलेश्वर की प्रसिद्ध कहानी 'नीली झील' दांपत्य जीवन का एक मार्मिक चित्र उपस्थित करती है। मरते हुए महेसा की पत्नी ने उससे इच्छा जतायी थी कि उसकी याद में मंदिर और धर्मशाला बनवा दे। महेसा ऐसा करने के लिए पर्याप्त उद्योग करता है किंतु नीली झील में पक्षियों के शिकार से उसके भीतर ऐसी करुणा का संचार होता है कि वह उसी पैसे से झील खरीदकर बोर्ड टँगवा देता है, 'यहाँ शिकार करना मना है'। कहानी बताती है कि भावनाओं का प्रवाह कैसे तर्कों के परे मनुष्य को संवेदनाओं से भर देता है।

बहुत दूर से ही वह नीली झील दिखायी पड़ने लगती है। सपाट मैदानों के छोर पर, पेड़ों के झुरमुट के पीछे, ऐसा मालूम पड़ता है, जैसे धरती एकदम ढालू होकर छिप गई हो, लेकिन गौर से देखने पर ऊँचे-ऊँचे पेड़ों के बीच एक बहुत बड़ा शीशा झलकता दिखायी पड़ता है।

यह वह झील है।

और इसी झील पर जल पक्षियों के शिकार के लिए आये हुए अंग्रेज कलेक्टर ने कहा था, "कितनी खूबसूरत है यह झील! जैसे ज़मीन में हीरा जड़ा हो...। झील तक पहुँचने के लिए पक्का रास्ता होना चाहिए।"

यह तीस साल पहले की बात है।

और तब बस्ती से झील तक रास्ता बनाने के लिए आये हुए मजदूरों की टोली में वह भी आया था और अंग्रेज़ साहब की मेम की आँखों को देखकर उसने कहा था, “कित्ती खूबसूरत है मेम! इसकी आँखें नीली झील की तरह लगती हैं।”

तगड़े और बदसूरत मजदूरों ने तब आँखें बचाकर गंदे इशारे किये थे। और हरी और भीगी ज़मीन में कार के पहिये फँसते ही वह सबसे पहले दौड़कर उस ओर धक्का लगाने के लिए जुट गया था, जिधर मेम बैठी थी... उसका मन होता था कि बहाने से हाथ डालकर फूल-सी मेम को छुए, पर हिम्मत नहीं पड़ती थी। और मजदूरों को उसकी इस सीनाज़ोरी पर बड़ा गुस्सा आया था और वे भीतर-ही-भीतर चाहते थे कि उसकी मरम्मत हो जाये।

रात को जब पेड़ तले बीनी हुई लकड़ियों के साझे चूल्हे जले और उस वीराने में मजदूरों के मुँह आग की लौ में शैतानों की तरह चमकने लगे, तो भजनू ने काँख से तंबाकू का बटुवा निकालते हुए कहा, “इस साले को मेट से कहकर निकलवाया जाये! मेम जान पाती तो चमड़ी उतर जाती...। साला आसक बनता है।”

“बनने दो, तुम्हारा का लेता है?” भूख से क्लांत और जल्दी-जल्दी बाटियाँ सेंकते हुए होरी ने बात तोड़ देनी चाही।

“हम सबकी रोज़ी जायेगी।” आग कुरेदते हुए एक और ने जोड़ा।

तभी दूसरे पेड़ से बड़ी भद्दी और मोटी आवाज़ में एक गीत का बोल उभरा–

“होए मेमिया तोरी अँखियाँ बड़ी जुलुम ढायो री...”

और पीतल की थाली ठनक उठी थी और महेसा शैतान की तरह नाच रहा था। बाटियाँ पकाते साथियों की हँसी और वाहवाही से शोर मच गया था। भूखे और थे कि मज़दूरों की आँखों में एक वहशी चमक आ गई थी और एक क्षण के लिए वे जैसे तन की पीड़ा भूल गए थे। महेसा गा-गाकर कुछ देर तक नाचता रहा...। पेड़ों की पत्तियाँ आग की दमक में ताँबे की तरह लग रही थीं और उनके काले, पपोटेदार तने अजगरों की तरह झिलमिला रहे थे। आसमान सीप की पीठ की तरह धुँधला और काला था और झील की ओर से अजीब तरह के सूने-सूने स्वर आ रहे थे।

इसी समय तीखी आवाज़ में चीखता एक सारस गुजर गया। उसके बड़े-बड़े पंखों से निःश्वास-सा निकल रहा था। सारस की चीख की प्रतिध्वनि कुछ क्षण तक आती रही और महेसा का स्वांग रुक गया।

“अब सीधा होके बैठ, रोटी खा ले!” काने मेट की आवाज़ थी यह। नाराज साथियों को मेट का इस तरह अपनेपन से बोलना अच्छा नहीं लगा। भजनू ने धीरे से कहा,

"बदमास ने मेठ को खुस कर लिया है! काना भी ऐबी है न, उसे भी मजा आता है!"

गुदारी बाटियों और उड़द की पकी हुई दाल की महक से सबकी भूख चमक आयी थी। बड़ी रात तक बतकही के बीच खाना चलता रहा। धीरे-धीरे चूल्हों की आग मझाकर राख में दुबक गई और पेड़ों का अँधियारा घना हो गया।

सुबह काम शुरू होते ही सैलानियों की एक पार्टी वहाँ आकर रुक गई। कुछ हिंदुस्तानी साहब थे और साथ में कुछ अच्छी-अच्छी औरतें। औरतों के कंधों पर कैमरे लटक रहे थे और साहबों के कंधों पर एयरगन और कारतूसों की पेटियाँ। खाने-पीने का सामान कंडियों में था और वह बोझ उनसे चल नहीं रहा था। औरतों के खूबसूरत चेहरों पर पसीने का पनीलापन था और साड़ियों के छोर कमर में खुँसे हुए थे। धूल से बचाने के लिए साड़ियाँ एक तरफ से कुछ ऊँची कर ली गई थीं। उन्हें देखते ही मजदूरों ने रुकने का मतलब भाँप लिया था और वे अपने काम में इतने मशगूल हो गए थे कि जैसे उन लोगों की उपस्थिति का उन्हें एहसास ही न हो। पर महेसा हाथ रोककर, फेंटा कसने के बहाने कनखियों से उन्हें ताक रहा था। वह इसी इंतजार में लगता था कि अभी उनमें से कोई औरत सामान उठाने के लिए कहेगी और वह मेट की मर्ज़ी देखकर निश्चय ही उनकी सहायता के लिए तैयार हो जायेगा।

साहब लोग भी किसी मज़दूर से आँख मिलने की ताड़ में थे। बाकी सब आँख बचा रहे थे, पर महेसा आँख मिलाने के लिए उतावला था; पर साहबों से नहीं। जैसे उसने यही तय किया था कि नीली साड़ी वाली औरत अगर कहेगी तो वह फावड़ा छोड़कर सामान उठा लेगा। वह बार-बार उसे ही हैरत से ताक रहा था कि नीली साड़ी वाली औरत ने ही मौका पाकर बड़ी मीठी आवाज़ में कहा, "कोई मज़दूर मिल जायेगा यहाँ?"

महेसा को यह बात नहीं जँची। "मज़दूर ही चाहती हैं तो खोज लें!" उसने ठसक से कहा, "हम लोग सरकारी गैंग के आदमी हैं!" कुछ इस तरह जैसे सरकार से रुपया पाकर मज़दूरी करना कुछ ऊँची बात हो।

"अरे, ज़रा-सी मदद के लिए चाहिए...। यह सामान झील तक पहुँचाना है।" उसी नीली साड़ी वाली की मीठी आवाज़ थी।

महेसा का दिल बहक उठा। बड़प्पन और शान से बोला, "मदद मिल सकती है, ऐसे बोलिए!"

महेसा के तुच्छ से गर्व को लक्ष्य करके वह धीरे-से हँसी और महेसा एक क्षण के लिए अपलक उसके साफ़ दाँतों को देखता रहा। फिर दौड़कर मेट के पास पहुँचा और सामान उठाने की इजाज़त माँग चला आया।

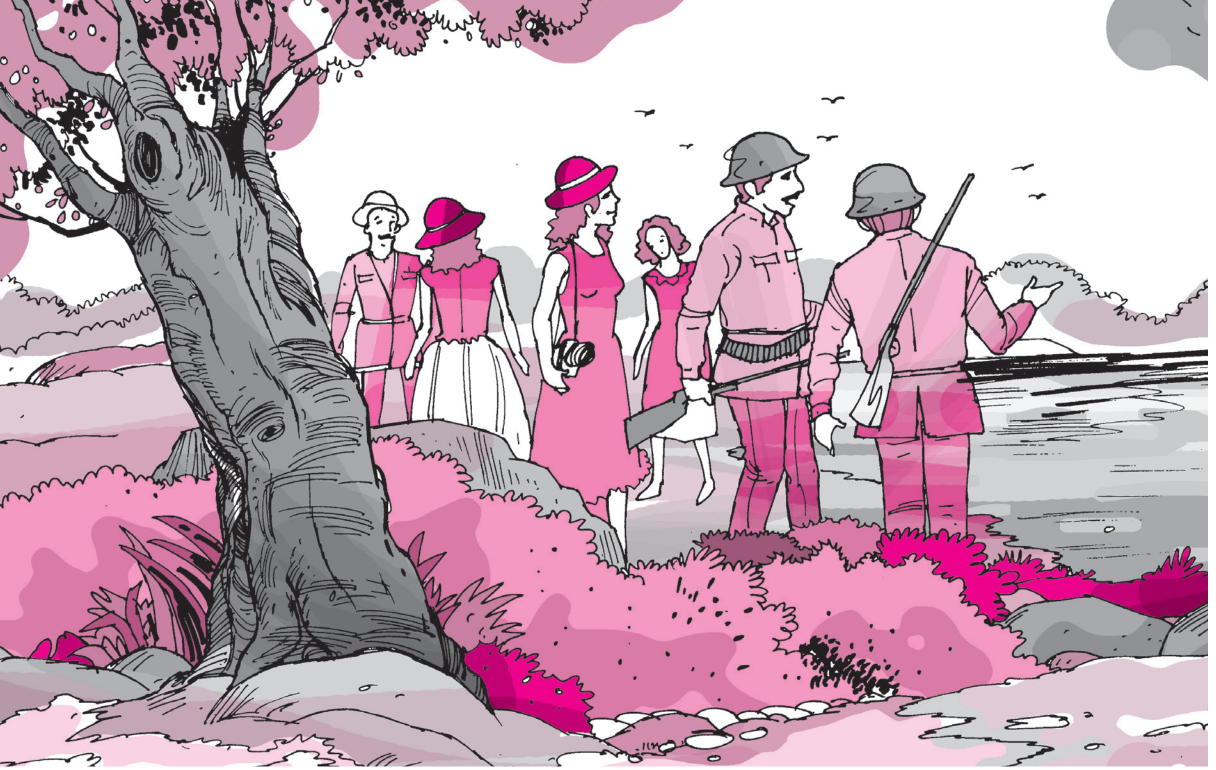

आते ही उसने गर्व से उनका सामान उठाया और नीली साड़ी वाली के कंधे में लटके थर्मस को माँगने के बहाने बोला, “यह बोतल भी दे दीजिए।”

मीठी आवाज़ वाली औरत ने कुछ जवाब नहीं दिया। पर वह ऐसे मानने वाला नहीं था, चलते-चलते उसने फिर पूछा, “आप लोग शिकार के लिए आये हैं? कहाँ से आये हैं?”

लेकिन वह नीली साड़ी वाली औरत एक आदमी से मुस्कुरा-मुस्कुराकर बातें कर रही थी। महेसा को यह अच्छा नहीं लग रहा था। एक अजीब तरह की परेशानी उसे हो रही थी। कुछ दूर तो उसने बर्दाश्त किया, फिर उसका मन हुआ कि सामान पटककर उसी आदमी से कहे कि उठाइए अपना ताम-झाम! मैं मजूर नहीं हूँ! पर उनके साथ चल सकना भी उसे कम भला न लग रहा था...। उसे बोलने का फिर मौका मिला, गलत रास्ते पर मुड़ते देख वह लपककर नीली साड़ी वाली के पास पहुँचा और एकदम उनके अज्ञान पर जैसे चीख पड़ा, “आप लोगों को रास्ता नहीं मालूम, हमारे साथ आइए! इधर से दलदल पड़ेगा।”

“दलदल! ओह!” नीली साड़ी वाली कुछ ज़्यादा चौंक गई थी। उसका यह चौंकना महेसा को बहुत अच्छा लगा था। उसे अनिर्वचनीय सुख-सा मिला था...। कानपुर में मिल से छुट्टी पाते ही वह चौराहे वाले कोने पर रुककर इसी तरह औरतों को देख-देखकर खुश होता था...

झुरमुट के पास पहुँचते ही सब लोग रुक गए। सामान वहीं उतरवा लिया गया। सभी औरतें हवा की ठंडक में अपने बालों की लटें ऊपर करती हुईं या साड़ियाँ सँभालती हुईं बेफ़िक्री से बैठ गईं।

हल्की-हल्की हवा झील की ओर से आ रही थी और छाया में कुछ सर्दी भी थी। झील के पानी के भीतर बादल तैर रहे थे और नरकुल धीरे-धीरे काँप रहे थे...। दूर से जिधर पानी उथला था, देवहंसों, मुर्गाबियों और पतारी के झुंडों के चुगने और पंख फड़फड़ाने की आवाज़ें आ रही थीं। देवहंस शायद सिवार खा रहे थे और मुर्गाबी घोंघे या केकड़े खोजने में मशगूल थे। पेड़ों पर चिड़ियाँ चहक रही थीं।

सहसा नीली साड़ी वाली ने झील के पानी की ओर इशारा करते हुए हैरत से कहा, "पानी का साँप! साँप तैर रहा है!"

सभी कौतूहल से देखने लगे। महेसा खिलखिलाकर हँस पड़ा। कैसे समझाए इन साहबों को, वे इतना भी नहीं जानते! वह सिर्फ़ नीली साड़ी वाली को ही बताना चाहता था। एकदम बोला, "पनिया साँप नहीं है, एक चिड़िया है वह!"

"चिड़िया? बकता है!" नीली साड़ी वाली ने प्यार से कहा।

"न मानें तो देखती रहें!" फिर इधर-उधर नज़र दौड़ाकर बोला, "वह उस पानी में उगे ठूँठ को देख रही हैं...? वह... उस पर जो काली चिड़िया बैठी है, उसी का साथी है यह, सरपपच्छी!"

"वह काली चिड़िया?" नीली साड़ी वाली उससे बात कर रही थी और वह तन्मय होकर बता रहा था, "हाँ-हाँ, वही! सरपपच्छी तैरने का बहुत शौकीन होता है। बस, भाले-सी काली चोंच निकालकर तैरता रहता है।"

"खाता क्या है?" उसने उत्सुकता से पूछा।

"मछली!" उसकी आँखों में चमक आती जा रही थी। और बात करने के लिए उसने बात जोड़ दी, "अभी जब थक जायेगा तो किसी ठूँठ पर पंख और दुम फैलाकर सुखायेगा।"

"अभी निकलेगा?" नीली साड़ी वाली का मुख खुला रह गया।

और उसके सफेद दाँतों को महेसा निहारता रहा... नकवा के सफेद पंखों की तरह धुले हुए, चमकदार! उसका मन जाने को नहीं हो रहा था, पर मेट ने कहा था जल्दी लौटना और फिर साथियों के कलेजे पर साँप लोट रहे होंगे!

तभी एक साहब को बंदूक सँभालते देख उसका मन उचाट हो गया। वह नीली साड़ी वाली भी अब बंदूक की ओर ज़्यादा ध्यान दे रही थी।

उनके साथ के एक साहब ने उसे कुछ पैसे दिए और अभी एक क्षण पहले का महेसा अपना सारा आकर्षण भूलकर चल पड़ा। उसका मन भारी हो आया था। रह-रहकर उसकी आँखों के सामने वह बंदूक घूम रही थी और कानों में चिड़ियों का शोर समाया हुआ था। हर आवाज़ वह पहचानता था— उन पक्षियों की भी, जो साल भर इसी झील के किनारे रहते थे और उनकी भी, जो इस ऋतु में, दूर पहाड़ों से उतरकर, कुछ दिनों के लिए मेहमानों की तरह आते थे। उनकी हर आवाज़ का अर्थ वह समझता था... वे लड़ रहे हैं, या आनंद से भरकर गा रहे हैं, या साथियों को खतरे का बिगुल सुना रहे हैं। झील के पानी में किलोल करते हर पक्षी के पंखों की सरसराहट का अहसास है उसे, चाहे वह मुर्गाबी हो, सुरखाब, जंगली बत्तख, चाहे बगुला, सारस, नकटा, रेती, सरपपच्छी, सोनापतारी! उनकी सीटियों की मधुर आवाज़ें उसके कानों में बसी हुई हैं... और तभी उसका मन उस बंदूक की याद से धड़कने लगा!

उधर बंदूक चली थी और गोली की टूटती हुई आवाज़ बादलों में गूँज गई थी। और उसके बाद पक्षियों का कातर शोर! मन पर चोट-सी लगी थी। उसका मन उदास हो आया था। दूरी पर साथी मजदूर काम में लगे दिखायी पड़ रहे थे। एक क्षण ठिठक कर उसने पीछे देखा, दलदल खामोश था और ऊपर से उड़कर भागती हुई चिड़ियों की भयातुर आवाज़ को शालीनता से पीता जा रहा था...। मुड़कर वह तेज कदमों से लौट आया और अपने काम में जुट गया।

पारबती के कहने से उसने कलमें बड़ी-बड़ी रखवायी थीं, चोटी में मोटी-सी गाँठ बाँधता था और मूँछें छोटी करवा ली थीं। मेले-तमाशे पर जाने के लिए बैलों की एक गोई और छोटा-सा रब्बा भी खरीद लाया था। बैलों को खूब सजा कर रखता था। उनके गलों में चालीस घुँघरुओं की माला थी और सींगों पर पॉलिश। रब्बे की छत के लिए रंगीन झालर पारबती ने सी थी और गछियाँ वह दर्ज़ी से बनवा लाया था। पहियों के ऊपर रथ की तरह हाथा लगवाया था और सन की नहीं, सूत की रंगीन डोरियों से किनारे बुनवाये थे। सतरंगी रब्बा था महेसा का। एक दफ़ा दौड़ में दाँव लगा आया था और पारबती के पीछे पड़ गया था, "तुम साथ नहीं बैठोगी तो दौड़ में नहीं जाऊँगा!" उसने बहुत समझाया था, "हमारा तमासा दिखाओगे...? बहुत लड़कपन है तुममें।"

महेसा हँस पड़ा था, "और तुम बूढ़ी हो गई हो न! सरम नहीं आती हमारे सामने कहते...? बतिया बछरी से दाँत हैं अभी, बात बड़ी-बूढ़ियों की तरह करोगी।"

और मेले की दौड़ के लिए जाते-जाते जब ऊसर से रब्बा गुजर रहा था, तो पारबती ने चतुराई से उसे मना लिया था और मन में कोई मलाल लाये बिना महेसा मेला दिखाकर बगैर दौड़ में हिस्सा लिए लौट आया था।

बस्ती में हरदम महेसा और पारबती की बात होती, पर दोनों को किसी की चिंता नहीं थी। पारबती रुपये का लेन-देन करती और सबकी चोटी अपने पाँव के नीचे रखती। बस्ती में कौन ऐसा था, जिसे वक्त-बेवक्त चार पैसे की ज़रूरत नहीं पड़ती! इसलिए वे लोग भी जो पीछे-पीछे पारबती और महेसा को कोसते, सामने आकर चिकनी-चुपड़ी बातें करते।

इसका एहसास दोनों को था, पर दोनों इतने मुक्त थे कि कभी उन्होंने मन नहीं जलाया। महेसा अब निश्चिंत हो गया था। काम-धाम करने की उसे ज़रूरत नहीं रह गई थी। पर अब भी, जब वह सैलानी लोगों को झील की ओर जाते देखता और उनके साथ कोई सुंदर औरत होती, तो वह अपने को रोक न पाता; पीछे-पीछे चला ही जाता और चाहता कि वह औरत उससे बात करे। और जब वह औरत उससे बात नहीं करती, तो वह चिड़ियों में मशगूल हो जाता, शांत झील के किनारे-किनारे चक्कर काटता, नरकुलों के बीच साबूदाने की तरह फैले हुए मछलियों के अंडों को देखता और नीलपक्षी के जोड़ों को निहारता...बगुले को ध्यानावस्थित खड़ा देखकर वह साँस रोककर ठहर जाता और उसके शिकार करने की प्रतीक्षा करता, देर हो जाती तो घर की याद आते ही लौट पड़ता।

एक बार वह दिन-भर नहीं आया, आधी रात को लौटा। पारबती ने नाराज होकर पूछा, तो सीधेपन से कह दिया, "जंगल तक गया था।"

"झील पर घूम के मन नहीं भरता?" पारबती ने उलाहना दिया, तो बड़ी सफ़ाई से उसने बता दिया, "जंगल में तीतर देखने गया था, ससुरे धूल से नहाते हैं।"

"तीतर-बीतर नहीं, तुम कहीं और गए थे। सच-सच बताओ मुझे!" पारबती कुछ कड़ी पड़ गई, "तीतर देखना था तो बलदू के घर देख लेते, वह तो तीतर लड़ाता है।"

"पिंजरे में बंद तीतर को क्या देखना!" महेसा ने कहा, "मुझे कोई पालना तो है नहीं, पता नहीं लोग कैसे चिड़ियों को पालते हैं!"

तभी ऊपर आकाश में कुछ पक्षियों का झुंड उड़ता गुजर गया। उसकी आँखें आसमान में टँग गईं। एकदम बोला, "यह वाक का झुंड है... देख पारबती, अब रात-भर ये मछली का शिकार करेंगे।"

पक्षियों के नर्म पंखों की रेशमी आवाज़ दूर चली गई थी।

"वो कुछ भी करें, तुम हमारी बात का जवाब दो। सच-सच बताओ कहाँ गए थे?"

"ईमान से बता दिया।"

"लेकिन इत्ती रात तक तीतर ही देखते रहे?" पारबती के स्वर में शंका थी।

"हाँ-हाँ, पारबती माना करो...! देखो, पैरों में कितने काँटे चुभ गए हैं! लड़ना है तो सवेरे लड़ेंगे।" कह कर वह आराम से टाँगें फैलाकर लेट गया।

पारबती ने बात बदल दी, "रुपया बहुत फैल गया है, वसूल नहीं होता, तुम ज़रा लोगों को डाँटो-डपटो।"

"यह हमसे नहीं होगा।"

"अच्छा, सुनो! मेरा मन है कि कुछ रुपया लगा के यहाँ चबूतरे पर एक मंदिर बनवा दिया जाये... और बन सके तो मुसाफ़िरों के लिए दो कोठरियाँ भी बन जायें। हारे-थके लोगों को आराम मिलेगा और कुछ रुपया धरम के कारज में लग जायेगा।"

"यह धरम-करम तुम्हें कब से सताने लगा?"

"बहुत दिनों की साध है मन में! मिस्त्री को बुला के ज़मीन भी दिखायी थी, फिर कुछ हो नहीं पाया...। मर जाऊँगी तो नाम का एक मंदिर तो रहेगा, दस दिलों से असीस निकलेगी!" पारबती ने बड़ी सच्चाई से बात कही।

"बेबखत यही बात कैसे सूझ गयी तुम्हें?" महेसा ने पूछा।

"आज दिन-भर यही सब सोचती रही।"

महेसा ने गौर से देखा पारबती को। चाँदनी उसके चेहरे पर पड़ रही। सचमुच पारबती बहुत बदली-सी लगी। आज उसे लगा कि सचमुच पारबती उससे बहुत बड़ी है...। और उसके चेहरे पर नीली लकीरों का जाल बनना शुरू हो रहा है। बाँहों में खिंचाव ढीला पड़ गया है, कूल्हों पर भारीपन आ गया है। लेकिन फिर भी उसके पत्तीदार बाल उसे अच्छे लग रहे थे...

"का देख रहे हो?" पारबती ने आँचल का खूँट ऊपर सरका लिया।

महेसा चुपचाप देखता रहा, बोला, "कुछ नहीं"। पारबती ने फिर टोका तो महेसा ने यूँ ही कह दिया, "मंदिर बनना ज़रूरी है?"

पारबती समझ गई कि उसके मन की बात यह नहीं है। महेसा की आँखों में अभी जो सूनापन उसने देखा था, वह कुछ और ही कह रहा था। पारबती ने कुछ उदास स्वर में पूछा, "हमसे सादी करके पछताते तो नहीं हो?"

"ऐ?" महेसा इस सवाल के लिए तैयार नहीं था।

"आज सोच-सोच के बड़ा दुख हुआ। ...अपने सुख की खातिर हमने तुम्हें खराब कर दिया।" पारबती की आँखों में पनीलापन था, "पछतावा तो होता होगा, सच-सच बताना!"

"काहे का पछतावा पारबती ?" महेसा ने कहा, "हमने कभी ये सब सोचा ही नहीं, ज़रूरत ही नहीं पड़ी।"

"तुमने कभी कुछ नहीं सोचा? सादी की बाबत भी नहीं सोचा था?" पारबती ने जैसे उसे कुरेदा, "अभी तुम अपने को आज़ाद समझते हो, बाल-बच्चे होते तो समझते!"

कहते-कहते उसकी आवाज़ भारी हो आयी। चाँद पर बादल आ जाने से चाँदनी मटमैली हो गयी थी और पारबती का चेहरा धुँधला पड़ गया था। लालटेन चौखट में कुंडी से लटकी थी और उसकी रोशनी में खाट की अरदावन परछाइयों की सलाखें बना रही थीं।

महेसा को एकाएक लगा कि शादी के बाद सब घरों में बच्चे होते हैं, उसके घर में अभी तक कुछ नहीं हुआ। उसने गहरी नज़रों से पारबती को देखा। इस समय की बात वह समझ नहीं पा रहा था। आखिर पारबती कहना क्या चाहती है? घर में चारों ओर सन्नाटा छाया हुआ था। ऐसे सूनेपन में उसने पारबती के साथ कभी अकेलापन नहीं महसूस किया है, पर आज वह इतनी अलग-सी क्यों मालूम हो रही? हमेशा, रात हो या दिन, अकेलेपन में उसके मन में प्यार ही उमड़ा है, और उसने भी कभी ऐसी उखड़ी बातें नहीं कीं।

"तुम्हें हुआ का है?" महेसा ने शायद आज पहली बार इतना सोचकर कुछ पूछा था।

"पता नहीं का हुआ है! बस्ती का अस्पताल बहुत छोटा है, यहाँ मेरी देखभाल नहीं हो पायेगी।"

"अस्पताल! लेकिन अस्पताल की का ज़रूरत है?" महेसा और उलझ रहा था।

"तुम्हारी नासमझी के लिए का कहूँ! यहाँ घर पर मेरी देखभाल कौन करेगा?

सगे-संबंधी भी नहीं, जो ज़रूरत-बखत पर आ जाते...। सुना है अस्पताल में तकलीफ भी नहीं होती, ऐसी दवा देते हैं डाकदरजी।"

महेसा हँसा। अब समझ पाया था वह। उत्साह से भरकर बोला, "जिला अस्पताल में चली चलना। पैसा सब देखभाल करा देगा, भगवान का दिया सब कुछ है।"

लेकिन पारबती उसकी खुशी में हिस्सा नहीं बँटा पायी। उसके मन में जैसे डर समाया हुआ था। बोली, "एक बात कहूँ...? हमें बड़ा डर लगता है, लगता है जान चली जायेगी।"

"बेकार डरती हो तुम!"

"बेकार नहीं, न जाने मन में कैसी-कैसी बातें व्यापती हैं! बड़े डरावने सपने दिखायी पड़ते हैं! साँस रुकने लगती है!" पारबती ने बाँहें छाती पर कस ली थीं।

"तो हमारे साथ लेटा करो।" महेसा ने उपाय बता दिया।

"कुछ तो सोचा करो!"

"हम कहें कि आजकल तुम कतरायी-कतरायी काहे रहती हो!...बेकार की बातें मन में मत लाया करो पारबती! आ, खाट टीन में कर लें।"

पारबती ने उठकर खाट पकड़ते हुए कहा, "अब इतना बाहर मत रहा करो, न जाने कब क्या हो जाये!"

महेसा ने खटिया-से-खटिया मिला ली और पाटी के पास सरककर हाथ उसकी बाँह पर रख दिया, "अब डर नहीं लगेगा तुम्हें।"

कुछ देर बाद पारबती तो सो गयी, पर महेसा को नींद नहीं आयी। पारबती का पैर एकाएक हिला और साँस तेज हो आयी, जैसे वह डर रही हो। महेसा ने उठकर उसके माथे पर हाथ फेरा। बड़ी देर तक बैठा देखता रहा और जब उसे नींद आने लगी, तो लोहे का एक चाकू लाकर उसने पारबती के सिरहाने रखा और लेट गया, जैसे पारबती नन्ही-सी बच्ची हो!

इन दिनों उसका मन बहुत भरा-भरा रहता। पारबती इस लायक नहीं थी कि उसे झील तक ले जाता, खुद भी बैठता और उसे भी दिखाता वहाँ की सुंदरता। इसलिए वह आस-पास ही कुछ देर के लिए चला जाता। हाफ़िज़ जी बिसाती की दुकान पर अगर बैठ जाता, तो पारबती के लिए नाखूनों की लाली, कोई छोटा-सा शीशा या ऐसी और चीज़ खरीद लाता जिसे हाफ़िज़ जी नयी चाल की बता देते...। एक दफ़ा हाफ़िज़ जी ने उसे फोटो-फ्रेम दिखाकर कहा, "इसमें मियाँ-बीबी की तस्वीर लगती है। बड़े घरों में लोग इसे रखते हैं।" फोटो-फ्रेम तो वह ले आया, पर तस्वीर नहीं थी। तीसरे ही दिन उसने पारबती

को तैयार कराया, सारे गहने उसे पहनने को मजबूर किया और खूब तेल लगाकर रामा फोटोग्राफर की दुकान पर जा पहुँचा।

साथ-साथ बैठते हुए उसने पारबती के सिर का पल्ला कानों के पीछे कर दिया और अपनी कमीज की जेब में सतरंगा रेशमी रूमाल रख लिया। अपने गले का तावीज भी खींचकर ऊपर कमीज पर निकाल लिया, ताकि तस्वीर में सब कुछ दिखायी पड़े। अपने पीछे बाग का पर्दा लगवाया, जिसमें दो चिड़िया चोंच से चोंच मिलाये बैठी थीं। पारबती को भी वह पर्दा पसंद आया था।

लेकिन तस्वीर में और सब तो ठीक आ गया, अफ़सोस सिर्फ बालों का था।

"ससुरे ने हमें बूढ़ा बना दिया! कहो, पारबती?"

"तुम्हें ही बड़ा शौक चर्राया था। एक रुपया खराब कर दिया!"

पर महेसा को इस बात का मलाल नहीं था। उसने तस्वीर को फ्रेम में लगवाकर बरामदे वाली घरोंची पर सजा दिया। ऐसी तस्वीर मुश्किल से किसी के घर निकलेगी... मुख्तार साहब के घर ही हो सकती है।

उस दिन भी वह हाफ़िज़ जी की दुकान पर बैठकर लौट रहा था। पारबती के बालों में लगाने के लिए विलायती पिन लाया था। पिन के पत्ते पर बनी मेम को वह ताक रहा था कि पारबती ने पूछा, "मंदिर के लिए मिस्त्री से बात हुई?"

"मिस्त्री तो नहीं मिले, पर एक नयी बात सुनने में आयी है।"

"का?" पारबती ने उत्सुकता से जानना चाहा।

"अपनी बस्ती में बिजली लग रही है; चुंगी वाले बड़ी कोशिश में हैं, पर पैसा पास नहीं है चुंगी के।"

"तो बिजली का लगेगी?"

"सुना, चुंगी अपनी कुछ ज़मीनें बेचने की बात सोच रही है, ऐसी ज़मीनें जो उसके लिए बेकार हैं! महेसा ने कहा तो पारबती एकदम बोली, "चुंगी अगर बेचे तो अपने चबूतरे के पास वाला कूड़ाखाना हम खरीद लें!...चबूतरे पर मंदिर हो जायेगा और उधर मुसाफ़िरों के लिए छोटी-सी धरमसाला! तुम ज़रा सच्ची बात पता लगाओ!"

"बात तो सच्ची है। हाफ़िज़ जी का रोज़ चुंगी में आना-जाना लगा रहता है। गलत खबर नहीं लायेंगे, वो ही बता रहे थे।" महेसा ने जैसे उसे इत्मीनान दिलाया, "मौका लगा तो खरीद लेंगे।"

"का पता कब तक हो!"

झील की ओर से तभी चिड़ियों का कातर शोर सुनायी पड़ा और उसका मन बहक गया। एकदम बोला, "शायद शिकारी आये हैं।"

ऊपर आसमान से 'आंग-आंग' करते चक्रवाकों के जोड़े गुजर रहे थे। महेसा का मन ग्लानि से भर आया। बोला, "इन्हें मारने से फ़ायदा! इत्ती सुंदर चिड़िया है, पर मुर्दा खाती है!"

"आजकल नयी-नयी चिड़ियाँ बहुत दिखायी पड़ती हैं, पहचान में भी नहीं आतीं," पारबती ने कहा, "न जाने कहाँ से इतनी आ जाती हैं!"

"ये चिड़िया मेहमान हैं।... कातिक खत्म होते आती हैं और फागुन-चैत तक चली जाती हैं।" महेसा पारबती को बता रहा था, "हमने चिड़ियों के अंडे भी जमा किये हैं, तुझे नहीं बताया, नहीं तो घर से निकाल देती।"

"अब भी निकाल सकती हूँ।" पारबती कह ही रही थी कि 'दिखाऊँ' कहता हुआ महेसा उठकर गया और तरह-तरह के सफेद, चितकबरे, हरियाले से अंडे उठाकर ले आया।

"देख पारबती, यह वाक का अंडा है, यह सारस का और यह सोनापतारी का!" महेसा एक-एक अंडा उठाकर दिखाने लगा। वैसे तो पारबती नहीं छूती, पर उसने सोनापतारी का अंडा हाथ में ले ही लिया। घुमाकर देखते ही हाथ से छूटकर वह गिर पड़ा और टूट गया, तो पारबती के मुँह से चीख निकल गयी, "हाय दइया"!

"टूट गया तो क्या हुआ?" महेसा ने सरलता से कह दिया।

पर पारबती के चेहरे पर काले बादल से छा गये थे, उसका दिल धक से रह गया था, बहुत धीमे स्वर में बोली, "असगुन हो गया।" और आँचल में मुँह छिपाकर रो पड़ी।

और पारबती उस दिन भविष्य के आशंकामय परिणामों को सोचकर रोयी थी... बिलकुल वैसे ही करुणापूर्ण और असहायता से भरी उसकी आवाज़ जच्चा-बच्चा अस्पताल में थी...

महेसा को सब कुछ याद आता है। यह कैसे होता है कि आदमी हमेशा एक ही तरह से रोता है...! पारबती की वह आवाज़ उसे भूलती नहीं, जब उसने अस्पताल के पलंग पर पड़े हुए महेसा को अपने पास बुलाया था, "इतने दिन चढ़ गए हैं, डॉक्टरनी कहती हैं कि चीरा लगाना पड़ेगा।" पारबती का रोम-रोम जैसे काँप रहा था चीरे का नाम सुनकर। आँखों में आँसू भरकर उसने महेसा की बाँह पकड़ ली थी और बड़े ही दर्द भरे स्वर में कहा था, "अब मेरा ठिकाना नहीं, पता नहीं ईश्वर को क्या मंजूर है!"

"दिल छोटा क्यों करती हो पारबती? तुम जीती-जागती घर पहुँचोगी। मैं मंदिर बनवाऊँगा और मुसाफ़िरों के लिए धरमसाला...!"

लेकिन पारबती जीती-जागती घर नहीं पहुँची। बच्चा पेट में मर गया था और ऑपरेशन के बाद भी उसकी बिगड़ती हालत को अकेली डॉक्टरनी सँभाल नहीं पायी थी। सारा शरीर नीला पड़ गया था, पारबती के शरीर में ज़हर फैल गया था।

और महेसा को पारबती का हल्का नीलापन लिए शरीर ठीक वैसा ही लगा था, जैसा कि उस दिन चाँदनी में उसने देखा था। पारबती की साँसें धीमी पड़ती जा रही थीं, वह एकदम निश्चिंत लग रही थी, और उसने महेसा को पास बुलाकर कहा था, "अब मंदिर ज़रूर बनवा देना, पारबती मंदिर!"

मंदिर! सोचकर ही महेसा का कलेजा फट गया था। आखिरी आस थी उसे, चीखकर बोला था, "ऐसा मत कहो पारबती! बच्चा मर गया तो क्या हुआ, तू तो जीती-जागती है!"

"मुझे देख लो, अच्छी तरह देख लो!"

पारबती की आँखों से आँसुओं की धार बह-बहकर कानों के पास होते हुए नीचे गिर रही थी। फिर... फिर उससे देखा नहीं गया, जैसे पारबती के प्राण खिंच रहे थे और फिर पारबती के निचले होंठ सूखकर चटक गए थे...।

महेसा की दुनिया वीरान हो गई और वीरानापन देखकर आदमी पगला जाता है।

बस्ती के आदमियों का यही कहना था कि महेसा पगला गया। जो आदमी, आदमी का खयाल नहीं करता, वह पागल नहीं तो और क्या है? आदमी के दुख-दर्द को जो नहीं समझता, उसे और क्या कहा जाये? महेसा, वह मुक्त और निश्चिंत महेसा, एकदम बदल गया था।

उसे सिर्फ़ पैसे की फ़िक्र थी। पारबती का फैला हुआ रुपया वह बड़ी कड़ाई से वसूल कर रहा था...। घर का अकेलापन उसे काटने दौड़ता। इतना प्यार पाकर अब जैसे उसकी आदत बिगड़ चुकी थी।

लोगों ने कहा, "महेस पंडित, दूसरी शादी कर लो। इतना रुपया-पैसा किस काम आयेगा? आस-औलाद भी तो नहीं।"

महेसा ने जवाब दे दिया, "पारबती के बराबर कोई मेरा खयाल करे तो सोचूँ भी... नहीं, तो भी न सोचूँ! गलत बात बोल गया। बेकार का मखौल मत किया करो! अब बूढ़ा हो चला।"

यों पारबती से दस बरस छोटा था महेसा, पर पारबती की मौत के बाद वह उससे दस बरस बड़ा लगने लगा। कनपटियों पर तीन ही बरस में सफेदी आ गई और गर्दन के नीचे की खाल झुर्रियों से भर गई। सचमुच, आदमी बूढ़ा नहीं होता, वक्त उसे बूढ़ा बना जाता है।

सूने घर में महेसा आठ-आठ आँसू रोता और उसे पारबती की एक-एक बात याद आती... चीज़ें देखता तो आँखों में आँसू भर आते... वह टीन का बक्सा, जिसमें उसके कपड़े रहते थे... और जिसमें पारबती अपने रुक्के और रुपये भी रखती थी... संदूक के ऊपर वाली कील में किनारी में बँधी चूड़ियों का लच्छा देखकर वह उस दिन रो पड़ा था। ...एक-एक चूड़ी उसने पहचानी थी ...कौन-सी किस मेले में पहनायी थी उसने और दूसरा जोड़ पहनने के वक्त उसने कब-कब इन चूड़ियों को उतारा था ...भरी आँखों से वह देखता रहा। ...घर का सूनापन उसे अब काटने दौड़ता। दीवार पर सगनौती की लकीरे देखकर उसे फिर कुछ याद आया... जब एक बार वह दो दिन के लिए कहकर चार दिन बाद लौटा था। शायद तभी पारबती ने गेरू से यह सगनौती उठायी होगी... वह जो कुछ करती थी, उसमें सिर्फ़ उसी के लिए तो सब कुछ था, और कौन था उसका? न पारबती का कोई था और न अब महेसा का कोई रह गया है...!

और जब वह जगन नाई के घर धरना देकर बैठ गया कि आज हिसाब मय मूल-ब्याज के चुकता करके उठेगा, तो उसकी औरत ने भीतर से उकराकर कहा, "पंडित, तुम तो इतने जालिम हो कि किसी की पत नहीं देखते! ...पारबती चाची मुँह से चाहे जितना बिगड़ें, पर आदमी की मरजाद और इज्जत का तो खयाल करती थीं...।"

"ये सब हम नहीं जानते! हम रुपया लेके उठेंगे आज! पूरा सौ रुपया है मय ब्याज के!" महेसा ने कड़कती आवाज़ में कहा और चोटी की गाँठ खोल ली।

जगन नाई बहुत गिड़गिड़ाया, "महाराज, घर की नींव खुदवा लो तो भी इस बखत पच्चीस से एक पाई ज़्यादा नहीं निकलेगा। ...थोड़ी-सी मोहलत और मिल जाये।"

आखिर चार भले आदमियों ने आकर जब बहुत समझाया तो महेसा किसी तरह राम-राम करके उठा।

कुछ दिनों बाद महेसा, जो अब महेस पांडे के नाम से पुकारा जाता था, बस्ती से चला गया। सुना, चुनार-मिर्जापुर की तरफ पत्थर की तलाश में गया है। कर्जदारों ने सुख की साँस ली, पर वह पंद्रह दिन के भीतर-भीतर लौट आया। चौधरी के बाग में बैठकर बता रहा था, "पारबती मंदिर के लिए सामान देखने गया था। सूरत-जयपुर से बनवाऊँगा।"

लोगों का कहना था कि सोना-चाँदी मिलाकर कुल आठ-दस हज़ार की पूँजी है उसके पास और जो दबा-दबाया हो सो अलग। इस बीच उसने काफ़ी बकाया रुपया वसूल कर लिया था।

धीरे-धीरे रुपये की उसकी तृष्णा भरती-सी लगी। हाफ़िज़ जी की दुकान से गुजरता तो आवाज़ सुनकर कह देता, "अब क्या करूँगा बैठके हाफ़िज़ मियाँ...? पहनने-ओढ़नेवाली तो चली गई।"

एक दिन हाफ़िज़ जी ने उसे हाथ पकड़कर बैठा लिया। बैठे-बैठे बात चल निकली, "सुना है, मंदिर बनवाने की फिकर में हो?"

"बस, यही एक काम करना है हाफ़िज़ जी! किसी तरह मंदिर और एक छोटी-सी धरमसाला बन जाए, तो मन को शांति मिले। पारबती यही कहती-कहती मरी थी।"

"यह तो धरम का काम है। बनाने खड़े होगे तो दस आदमी हाथ बँटायेंगे। तुम शुरू तो करो।" हाफ़िज़ जी ने उसकी उदास नज़रें देखकर तसल्ली दी, "कभी ज़रूरत पड़े तो दस-बीस रुपये हमसे भी ले लेना।"

"रुपया पूरा नहीं है। लोग समझते हैं मेरे पास खत्ती खुदी है। पर सच हाफ़िज़ जी, कुल चार हज़ार हैं, इतने में तो सीमेंट भी नहीं आयेगा।"

ग्राहक आया देख हाफ़िज़ जी भी उधर उलझ गए और महेस पांडे उठकर चल दिया। ऐसे ही एक दिन बस्ती की तरफ से घर जा रहा था कि झील वाले रास्ते पर कुछ लोग दिखायी पड़े। उसके पैर उधर ही उठ गए। कुछ सैलानी थे, चार मर्द और दो औरतें। औरतें सुंदर तो नहीं थीं, लेकिन फिर भी वह उनके पीछे-पीछे चल दिया। काफ़ी दिनों बाद आया था वह इधर।

नीली झील खामोश थी। किनारों पर गीली आँखों की तरह नमी थी और घास की टहनियाँ हवा के साथ धीरे-धीरे पानी को सहला रही थीं। नरकुल की लंबी पत्तियाँ पक्षियों की कलगी की तरह काँप रही थीं और पानी में डूबी सिवार के सूतों से मछलियों के बच्चे कतरा-कतराकर निकल रहे थे। वह किनारे आकर बैठ गया। पानी के नन्हें-नन्हें बबूले नीचे से ऊपर सतह तक आये, तो लगा किसी मछली ने मोती उगल दिये हों। जलचरों की बारीक आवाज़ें झील के पानी में गूँज रही थीं और ऊपर पेड़ों पर पक्षियों के पंखों की सरसराहट और सीढ़ियों की मद्धम आवाज़ें थीं।

काले सिर और श्वेत वक्ष वाली गंगाकुररी की हल्की-सी सीटी उसके कानों में पड़ी। आँखें उधर अटक गईं। झील के ऊपर वह चक्कर काट रही थी, कुछ इस तरह

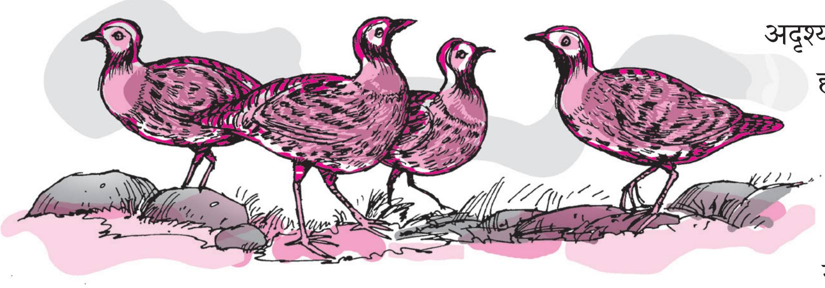

जैसे उसे चक्कर में उड़ाने वाली अदृश्य डोर किसी के हाथों में हो और वह बस घूमती ही जा रही हो। वह जानता है कि गंगाकुररी पेड़ पर नहीं बैठेगी। तभी वह तीर की तरह पानी के ऊपर गिरी और एक चमकदार मछली उसकी लंबी चोंच में थी।

तभी संगीत की आवाज़ उसके कानों में पड़ी। आए हुए सैलानी लोग कुछ गा-बजा रहे थे। नीली झील के शांत पानी पर उनके स्वर तैरते हुए दूर तक जा रहे थे। उसे बड़ी शांति मिली।

फिर सवनहंसों का एक झुंड अपने राग का स्वर मिलाता हुआ झील के दूसरे किनारे पर उतर पड़ा और दो-चार हंस गेहूँ और चने के खेत में घुसकर अंकुर खाने लगे। गर्दन उठा-उठाकर वे ऐसे देख रहे थे, जैसे अजनबी हों, और सचमुच वे अजनबी ही हैं। महेस पांडे का मन न जाने क्यों भर आया! वे सवनहंस अब आये हैं, चार-पाँच महीने रहकर पारबती की तरह चले जायेंगे या फिर किसी शिकारी का शिकार हो जायेंगे, जैसे पारबती हो गई। इनके धूसर पंख खून की लकीरों से रंग जायेंगे, और इनके पंखों को पकड़कर शिकारी इन्हें ऐसे लटका ले जायेगा जैसे मुर्दा पारबती को अस्पताल के भंगी पलंग से उठाकर उस सूने बरामदे में ले आये थे...।

तभी करकर्रा बोला, कलगी की शान में वह गर्दन लपकाता हुआ चला जा रहा था। शायद आरामदेह, रेतीली ज़मीन खोज रहा है करकर्रा। फिर एक भयंकर धड़ाके की आवाज़ से वह चौंक उठा। बायीं ओर फैले दलदल से सारसनी की तुरही-सी तेज चीख आयी और गूँजती रही। वह बार-बार चीख रही थी और सारस अकुलाया-सा कुछ ऊपर चक्कर काट रहा था। कभी वह दलदल में उतरकर चीखता, कभी लंबे-लंबे डग भरके इधर-उधर लपकता और वैसी ही तेज आवाज़ में चीखने लगता। गिरी हुई सारसनी की आवाज़ फट गई थी और उसकी गर्दन कुचले हुए साँप की तरह तड़फड़ा रही थी।

सवनहंसों का झुंड तट से भागकर खेतों में चला गया। ...अभी-अभी कुछ क्षण पहले का स्वप्निल वातावरण एकदम भयानक हो उठा था। झील का पानी सीमा में बद्ध जैसे थर्रा

रहा था और भीगे किनारों पर निर्जीव स्वर टकरा रहे थे। पेड़ों में अभी-अभी सनसनाहट भर गई थी। दलदल में घायल पड़े सारस को उठाकर लाने की किसी की हिम्मत नहीं पड़ रही थी।

महेस पांडे ने पास आकर उन सैलानियों को देखा। उसे उम्मीद थी कि पारबती की तरह ऐसे क्षण में इन औरतों की आँखों में पानी डबडबा आया होगा, पर उनमें तो शिकारी के निशाने की प्रशंसा भरी थी।

वह घर लौट आया। रात-भर उस अकेले घर में उसे बार-बार वही तेज आवाज़ सुनायी पड़ती रही। फिर जाने कहाँ से अस्पताल में चीखती पारबती की आवाज़ें आने लगीं। सुबह होते ही उससे रुका नहीं गया। वह सीधा झील पहुँचा। झील के ऊपर का धुआँ धीरे-धीरे साफ़ हो रहा था। कान्द का जोड़ा किनारे पर बैठा काई खा रहा था। झील के शांत सौंदर्य ने उसे इस क्षण बिलकुल प्रभावित नहीं किया। उसके पैर दलदल की ओर बढ़ रहे थे। उसे सारस दिखायी दिया। वह मृत पड़ी सारसनी के पंखों में चोंच गड़ा-गड़ाकर उसे जगा रहा था शायद, और जब सारसनी नहीं जगी, तो वह विलाप करता झील की ओर चला आया।

वहीं पेड़ के नीचे बैठकर वह देखता रहा— मानसरोवर और कैलास से आये देवहंसों को जो गंधर्वों के देश से प्रवास के लिए आए थे... कोमल और पवित्र पक्षी! हल्की किरणों में सोनापतारी के स्वर्ण पंख चमचमा उठे। उसका मन उदासी से भर गया। इन परदेसी पक्षियों से क्या नाता जोड़ना! बैठे-बैठे जब वह ऊब जाता, तो बस्ती की ओर चला आता।

बस्ती में नाप-जोख होने लगी तो लोगों को विश्वास हुआ कि अब बिजली लग जायेगी। महेस पांडे ने भी हाँ-में-हाँ मिलायी, "सुना है, उत्तर की तरफ बहुत बिजली पैदा की जा रही है, वहीं से यहाँ आ रही है।"

तभी मुनादी वाला ऐलान करता सुनायी पड़ा, "ब-हुकुम चियरमन साहब के चुंगी की कुछ ज़मीनों का नीलाम ब-तारीख चार जनवरी सोमार को चुंगी अहाते में सवेरे आठ बजे से होगा...। ज़मीनों के नकसे दफ्तर चुंगी में खरीदारों के लिए लगे हैं! ...हर खास व आम को खबर दी जाती है कि..." और मुनादी वाले ने तबले पर बाँस की खपच्चियों से चोट की और आगे बढ़ गया।

चार जनवरी में अभी बीस दिन थे। महेस पांडे के दिमाग में चबूतरे के पास वाली ज़मीन घूमने लगी। चुंगी को बिजली के लिए रुपये की ज़रूरत है और उसे धर्मशाला के लिए उस ज़मीन की।

मंदिर और धर्मशाला की बात को लेकर वह सभी के पास पहुँचा, "धरम का काम है। सबसे ज़्यादा रुपया हम लगायेंगे, कुछ मदद आप लोग करें। धरमशाला पंचायती कर दी जायेगी। आप लोग दस-दस, बीस-बीस रुपये से भी मदद करें तो यह कारज हो सकता है।"

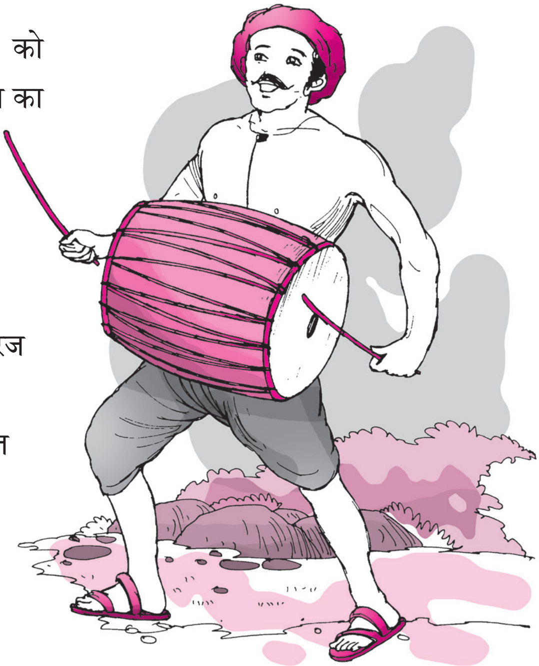

मारवाड़ी मिलवालों ने एकमुश्त पचास रुपये दे दिए, लेकिन उसका खाता डाकखाने में खुलवा दिया। महेस पांडे ने तीन हज़ार रुपये भी उसी खाते में जमा कर दिए। इन बीस दिनों के बीच वह घर-घर घूमा। मुख्तारों के पास गया, हलवाइयों और वैद्यों के पास गया, कपड़े के आढ़तियों से लेकर अंग्रेज़ी डॉक्टरों तक पहुँचा और कुल मिलाकर एक हज़ार रुपया और जमा हो गया।

सबकी आँखों में महेस पांडे का रुतबा और सम्मान एकाएक बढ़ गया था। अब सिर पर वह गेरुआ साफ़ा बाँधने लगा था और हाथ में लाठी लेकर चलता था। शरीर कुछ शिथिल हो रहा था।

लेकिन इस ढलते शरीर के साथ भी वह दिन-भर घूमता और अपने साफ़े में किसी चिड़िया का गिरा हुआ सुंदर-सा पर कलगी की तरह खोंस लेता। चुंगी दफ़्तर में जाकर वह नक्शे भी देख आया था। नीलामी का दिन पास आ रहा था, और जैसे-जैसे वह दिन निकट आता जाता, महेस पांडे की उदासी और बढ़ती जाती।

झील पर शिकार खेलने के लिए आदमियों की बहुत-सी टोलियाँ इस बीच आयीं और गईं, और अपने घर पर बैठे या बस्ती में घूमते हुए उसने जब-जब चीत्कारें सुनीं और साहब शिकारियों को नर्म पंख वाली चिड़ियों को लटकाये ले जाते देखा, तब-तब उसे पारबती की याद आयी बेतरह। उसकी हालत भी तो उस सारस के जोड़े की तरह ही थी...

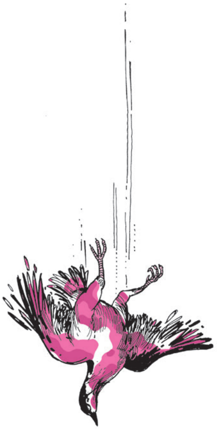

घर में लेटता तो उड़ते पक्षियों के नर्म, कोमल पंखों की सरसराहट उसे महसूस होती, जैसे पारबती केलासन की धोती पहने अदृश्य रूप से गुजर गई हो। पर्वतों से आये मेहमान पक्षियों के सफेद और सेमल की रूई से सजीले पंख और पारबती के सफेद दाँत!

सुबह उठा तो मन नहीं लगा और वह शांति पाने के लिए झील की ओर चला।

झील पर पहुँचकर अपनी लाठी से वह काई को छितराता रहा। सिवार के सूतों को उलझाकर उसने निकाला, नन्हे-नन्हे बीज चुनकर मुँह में डाल लिए और उठकर उधर चला गया, जिस ओर जलमंजरी खिली हुई थी। जलमंजरी के पास से ही दलदल शुरू हो जाता था। नारी की बेल पानी में तारों की तरह बिछी हुई थी और गाँठों के पास नन्हे-नन्हे घोंघे चिपके हुए थे। सूत-सी सफेद नन्ही-नन्ही जड़ें मछली के उजले पंखों की तरह धीरे-धीरे काँप रही थीं। दलदल में घुसकर उसने जलमंजरी के फूल तोड़े और गुच्छा बनाकर लौटने लगा।

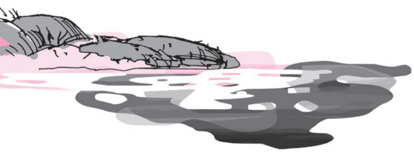

सोनापतारी का झुंड रात-भर चारा खाकर उड़ने ही वाला था कि एक गोली उस पार से छूटी और उड़ते सोनापतारी के झुंड में से एक पक्षी बिलबिलाकर छप्प से झील के बीचों-बीच गिर पड़ा। उसके सोने से पंख पानी पर छितरा गए और नीली झील के खामोश पानी पर एक हलचल हुई। एक क्षण बाद ही लाल खून की पतली-सी लकीर पानी पर खिंची और सोनापतारी तैरती हुई उस पार जाने की कोशिश करने लगी। उसके नर्म पंख फड़फड़ा रहे थे और पानी पर खून की लकीर उसका पीछा कर रही थी।

झुरमुट में से शिकारी निकले। उन्होंने देखा, मगर वह पक्षी तैरता हुआ उस किनारे से निकलकर किसी झाड़ी में दुबककर खामोश हो गया। शिकारियों ने बहुत खोजा, लेकिन पक्षी नहीं मिला। झील पर मिटती हुई लकीर के बीच एकाध पंख पड़ा था।

उसका मन उचाट हो गया। जलमंजरी के फूलों को वहीं फेंककर वह लौट आया।

पारबती की याद उसे फिर आयी और नीलामी वाले दिन उसने तीन हज़ार की बोली लगाकर चबूतरे के पास वाली ज़मीन नहीं, दलदली नीली झील खरीद ली। लोगों की आँखें फट गईं। इसका दिमाग तो खराब नहीं हो गया?

"मंदिर का नाम लेकर इसने धोखा दिया है। रुपया हजम कर गया है।"

लेकिन उसने किसी को कुछ भी जवाब नहीं दिया, और मन में लगता कि अब तो वह पारबती को भी जवाब नहीं दे सकता। उसके पास जवाब है ही क्या?

फागुन आते-आते मेहमान पक्षी उड़ गए। पवनहंस चले गए, सफेद सुरखाब अपने पुराने घरों में लौट गए। मुअर, सन्द, करकर्रा और सरपपच्छी भी चले गए। ...झील बहुत सूनी हो गई थी, पर महेस पांडे को विश्वास था कि ये फिर हमेशा की तरह अपने झुंडों के साथ कातिक-अगहन तक वापस आयेंगे।

महेस पांडे लिखना-पढ़ना तो जानता नहीं था, बस झील वाले रास्ते के पहले पेड़ पर उसने एक तख्ती टाँग दी थी, जिस पर लिखा था, 'यहाँ शिकार करना मना है।' और नीचे की पंक्ति थी,'दस्तखत नीली झील का मालिक – महेस पांडे!'

संवाद

1. रूप-लावण्य के पीछे निरर्थक भटकने वाले अल्हड़ 'महेसा' ने एकाएक सबकी नज़रों में अपना सम्मान कैसे बढ़ा लिया?
2. शिकारियों का मार्गदर्शक दिखने वाले 'महेसा' ने धरम कारज की बात क्यों सोची और इसके लिए उसने क्या-क्या किया?

चिड़िया ऐसे मरती है

मधु कांकरिया

मधु कांकरिया की कहानी 'चिड़िया ऐसे मरती है' में एक ऐसे अनाम संबंध को चित्रित किया गया है जो प्राय: सामाजिक दबावों और परिस्थितियों की भेंट चढ़ जाया करता है। कहानी का नायक अपने प्रेम की अनुभूति को अंत तक अक्षुण्ण बनाए रखता है, जब तक कि उसकी प्रेमिका विवाह के वर्षों बाद मिलकर उसकी प्रेमानुभूति को अपनी व्यस्तता और व्यवहार से छिन्न-भिन्न नहीं कर देती। वस्तुत: किसी भी संबंध की जीवंतता इस बात पर निर्भर करती है कि वह संबंध हमारी स्मृति का हिस्सा किस रूप में है।

बात उन युवा और भटकते आवारा दिनों की है जब हम अकसर भिड़ जाया करते थे। देश, समाज और राजनीति पर बतियाते-बतियाते 'औरत' पर आ जाया करते थे। मेरे मित्र मेघेन के बड़े भाई विजय भी उस दिन की हमारी बैठक में शामिल थे। बड़े धैर्य और खामोशी के साथ वे हमारी बहस सुन रहे थे, पर जब हमारी बातें भटकती हुई 'औरत' पर अटक गईं तो वे चुप्पी सँभाल नहीं पाये। शायद वे घाव खाये हुए थे। उनका मत था कि औरतें एक ही साथ कई समय और आयामों को जी लेती हैं जबकि पुरुष ऐसा नहीं कर पाते। अपनी बात की पुष्टि के लिए उन्होंने देवदास की पारो का उदाहरण लिया जो अतीत और वर्तमान दोनों के बीच आवाजाही कर रही थी। जो विवाह होते ही अपने हाथीपोता गाँव की जमींदारी, हवेली, पति-बच्चों और सास की दुनिया भी संभाल रही थी और मन की

दुनिया भी। जबकि देवदास पूरी तरह अतीत, प्रेम और स्मृतियों का ही होकर रह गया था। पारो से क्या बिछड़ा कि ज़िंदगी ही हाथ से निकल गई।

"वे अतीत से मुक्त होते ही वर्तमान को साध लेती हैं, इसलिए ज़िंदगी में हमसे कहीं ज्यादा कामयाब होती हैं।" बोलते-बोलते विजय एक संजीदा चुप्पी में डूब गए थे।

मेरा मानना था कि स्त्री हो या पुरुष, इंसान इतनी आसानी से पकड़ में आने वाली चीज़ नहीं है। उसके संघर्ष, विकास और आत्मिक उन्नयन की कहानी हर जगह नयी है क्योंकि बहुत कुछ यह ज़िंदगी के दबाव, उसकी सोच, मूल प्रवृत्ति और परिस्थितियों पर भी निर्भर करता है। फिर व्यक्ति, परिवार और समाज के अंतर्निहित संबंध भी मामले को और पेचीदा बना देते हैं। फर्ज कीजिए, यदि देवदास सामंती जमींदार परिवार का नहीं होता, किसी श्रमजीवी परिवार का इकलौता कमाने वाला होता, साथ में छोटे-छोटे भाई-बहन और बीमार विधवा माँ होती तो क्या वह प्रेम में इस प्रकार आत्मविनाश की विलासिता पाल पाता?

बहरहाल, इसी बहस के दौरान मेरे कथाकार के भीतर ठहरे शांत जल में पहली हलचल मची थी और इस कहानी का बीज पड़ गया था।

उस गहराती साँझ की डूबती उदासी में जाने क्या बीता था विजय पर, यादों के ज़ख्म कि ज़ख्मों की याद, कि अव्यक्त का दबाव वे और अधिक झेल नहीं पाये थे, जैसे गर्मी पाकर अनार फूट पड़ता है, जैसे माटी से कोंपल फूट पड़ती है। विजय के शब्द हमें सम्मोहित करते गए थे। विजय ने कहना शुरू किया—

"मित्रो, मैं आज भी उस रिश्ते को घाटे का सौदा नहीं मानता बल्कि यह मेरे जीवन का वह अनुभव था जिसने मुझे राजा भर्तृहरि की तरह ज़िंदगी के सत्य-असत्य का अनुभव कराया। जिसने मेरे स्वप्निल मानस, कल्पनाशील आत्मा और इंद्रधनुषी मिज़ाज पर यथार्थ का गिलाफ़ चढ़ाया। जिसने मुझे सही अर्थों में ज़िंदगी से मिलाया। मुझे खोला।"

बोलते-बोलते उन्होंने चारमीनार की पीली डिब्बी से निकाल एक सिगरेट सुलगायी। कुछ क्षण रुके, जैसे शून्य में से कुछ खोज रहे हों या सही शब्दों का चुनाव कर रहे हों, थोड़ा धुआँ छोड़ा और फिर कहने लगे– मित्रो, स्वप्न और यथार्थ के थपेड़े खाते मेरे वे लम्हे जो मुश्किल से 25 मिनट से भी कम रहे होंगे पर जिन्होंने औरत और ज़िंदगी पर मेरी समझ को पूरी तरह बदल ही डाला था। उन लम्हों में मैंने देखा था, एक स्त्री के अंतःकरण को पुनर्जन्म लेते। उस 25 मिनट की कहानी को सुनाने के लिए मुझे आपको दस साल पीछे ले जाना होगा। क्या आप लोगों में है इतना धैर्य उस पूरी कहानी को सुनने का?

हम तल्लीन होकर उन्हें सुन रहे थे, हमने हामी भरी। उन्होंने कहना जारी रखा—

मेरी कहानी ज़िंदगी के उस दौर से शुरू होती है जब मेरे सपने हर रात मुझे रेशमा के पास ले जाते थे। दरअसल लंबी बेकारी के चलते उन दिनों ज़िंदगी मुझसे बेमानी हो चुकी थी और मैं उससे लगातार भागता फिर रहा था। हर सुबह मैं खुद को समझाता कि आने वाली शाम शायद नौकरी की कोई सौगात लेकर आये मेरे द्वार; पर शाम मुझे ना-उम्मीद करती। ऐसी ढेरों शाम गुजरने के बाद भी जब कोई ठीक-ठाक नौकरी का जुगाड़ मैं नहीं बैठा पाया तो ज़िंदगी की इस ज़िल्लत से छुटकारा पाने के लिए खुदकुशी का खयाल मुझे किसी प्रेयसी-सा ही लुभाने लगा था।

क्योंकि मेरे सभी दोस्त अपने-अपने ठिकाने लग चुके थे। कुछ को अपने बाप-दादाओं का पुश्तैनी धंधा रास आ गया था तो कुछ ने अपने को किताबी कीड़ा बना डाला था और रात-दिन 'कम्पीटीशन सक्सेस रिव्यू' या 'कम्पीटीशन मास्टर' जैसी जनरल नॉलेज की पुस्तकों को घोट-घोटकर बैंक में क्लर्क बन जीवन की बाज़ी मार गए थे। बचे-खुचे खुशनसीब स्कूल या कॉलेज में पार्ट-टाइम हो गए थे। थके-मरे उन दिनों मेरे लिए खाली हाथ और खाली उम्मीद घर में घुसने से बढ़कर लज्जाजनक इस संसार में कुछ भी नहीं था। शुरुआती दिनों में माँ और बापू ज़रूर पूछते– बैठा जुगाड़? बाद में तो उन्होंने पूछना भी बंद कर दिया था। बजाय पूछने के उन्होंने मेरा चेहरा पढ़ना शुरू कर दिया था। मुझे लगता मैं इस सृष्टि की सर्वाधिक निकृष्ट और अधूरी रचना हूँ, बल्कि एक कीड़ा हूँ, धीरे-धीरे रेंगने वाला। पराश्रित, परजीवी। क्योंकि मनुष्य वह होता है जिसके पास और चाहे कुछ हो, न हो, पर एक नौकरी ज़रूर होती है, नौकरी से मिलने वाली इज्जत होती है, घर से निकलने की हड़बड़ी होती है, जिसके पास वक्त नहीं होता है। जबकि मेरे पास यदि कुछ था तो वह वक्त ही था जिसे मैं काट नहीं पा रहा था, इस कारण वक्त मुझे काट रहा था। बहरहाल... ऐसे ही गर्द भरे बेकार और आवारा दिनों में कोलकाता की नेशनल लाइब्रेरी में मेरी मुलाकात रेशमा से हुई। उसे जय गोस्वामी और विष्णु डे की कविताओं की कोई किताब चाहिए थी। नेशनल लाइब्रेरी किताबों का एक अथाह समुद्र था और उसे जल्दी थी। उसे परेशान देख मैंने उसे कहा कि वह सुविधानुसार किसी दूसरे दिन आ जाये, किताबें उसे मिल जायेंगी। उसने अविश्वास से मुझे देखा। मैंने हँसकर कहा– फुरसतिया आदमी हूँ, किताबों के समुद्र से आपकी किताबों का कैटलॉग नंबर खोजकर, नोटकर लाइब्रेरियन को दे दूँगा। लाइब्रेरियन अच्छा आदमी है और मुझे जानता है क्योंकि पूरी दोपहर यह रीडिंग रूम ही मेरा बसेरा होता है और किताबें मेरी हमसफ़र, जो थपथपाती रहती हैं मुझे जब-तब।

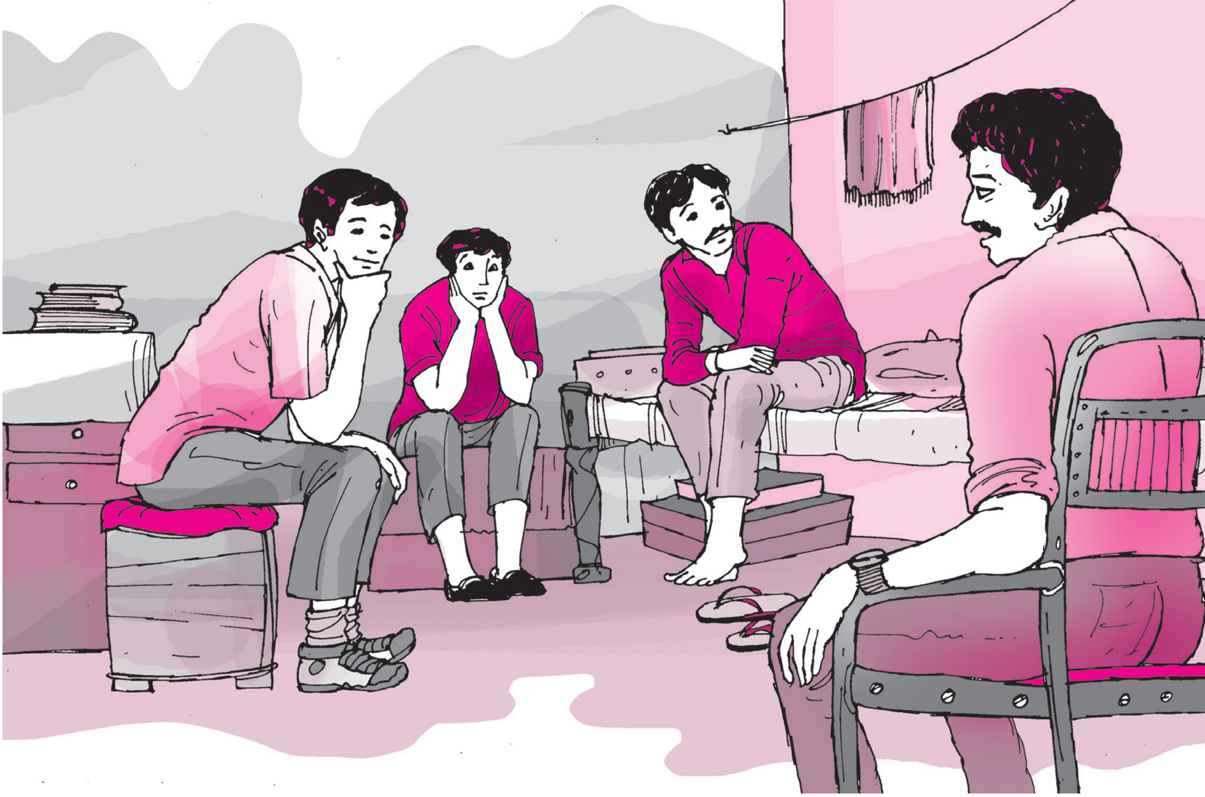

मेरी बात सुनकर हँस पड़ी वह और तभी मैंने नोट किया कि हँसते वक्त उसके गालों पर गड्ढे पड़ते थे, ठीक वैसे ही जैसे शर्मिला टैगोर के गालों में पड़ते थे।

बोलते-बोलते विजय चुप हो गए... शायद उन्हीं गड्ढों में गिर गए थे।

विश्वजीत ने उन्हें हल्के से हिलाया, वे झेंप गए और फिर चालू हो गए।

–हाँ, तो मित्रो, अगले सप्ताह वह फिर आयी और यह इत्तफाक ही था कि मैं भी वहीं था रीडिंग रूप में। किताब पाकर एक गहरी तृप्ति उसके चेहरे पर फूल-सी खिल गई। उसने कृतज्ञता भरी आँखों से देखा मेरी ओर। उस दिन उसने हल्के गुलाबी रंग का सलवार सूट पहना था जो उस गुलाबी साँझ में उस पर बहुत फब रहा था। कच्चे डाव से भरी-भरी और बदन से निकलती हल्की-हल्की खुशबू की लहर। गोरेपन की ओर उन्मुख साँवला रंग, तीखे नैन-नक्श। गहरी काली कँटीली आँखें और धीमी खनकती आवाज़। वह बंगाली सौंदर्य का एक नायाब नमूना थी। आविष्ट और अभिभूत-सा मैं उसके पीछे-पीछे चलने लगा कि उसने हठात् पूछा... आप क्या करते हैं? बस उसी क्षण सब कुछ चरमरा गया... मैं औंधे मुँह गिर पड़ा... किसी प्रकार शब्दों का गला घोंटते हुए मैंने कहा– बेकार हूँ। नौकरी की तलाश में भटक रहा हूँ।

उसने कहा कुछ नहीं, बस अपनी झील-सी गहरी काली आँखें मुझ पर टिका दीं, सहानुभूति और हमदर्दी की अपार लहरें थीं वहाँ, जिसे देख मैं प्रकंपित हुआ और अपने

सारे दुख-दैन्य को भूल कामना करने लगा, इंशाअल्लाह, ज़िंदगी में और कुछ मिले या न मिले पर कुछ पल की मोहलत ज़रूर मिले इन झरोखों में बैठने की, इस झील में डुबकी लगाने की।

वह स्टॉपेज तक मेरे साथ-साथ चलने लगी। मैं निहाल हो गया। जैसे काँसे का कटोरा ज़मीन पर गिर गया हो, बिना उसे छुए ही मेरा शरीर झनझना उठा। पहली बार मुझे पहला सुख मिला। पहली बार चैन की तलाश में भटकते मेरे चित्त को विश्वास का ठौर मिला, क्योंकि एक लड़की थोड़ी दूर ही सही, मेरे साथ-साथ चली थी।

उन अविस्मरणीय पलों में ही मैंने जाना कि मौसम बदलते ही सपने कैसे रंग बदल लेते हैं, कि स्वप्न ही जीवन के सबसे बड़े यथार्थ होते हैं। बहरहाल... वह बिना बोले भी बोलती जा रही थी और मैं अपने सपनों में रंग भरने में लगा हुआ था कि स्टॉपेज आ गया। उसने पूछा...“आप कहाँ तक पढ़े हुए हैं?”

मैंने बेसब्री से बताया कि मैंने हिंदी साहित्य में एम.ए. किया है। उसकी आँखें इंजन के सर्चलाइट-सी चमकने लगीं, “खूब-भालो। यदि आपके पास समय हो तो मेरे दो नालायक छोटे-छोटे भतीजे हैं, इसी साल उनका बोर्ड है, उनकी भाषा बहुत कमज़ोर है और इम्तहान

करीब हैं, आप उन्हें पढ़ा दें तो आभारी रहूँगी। बस, हिंदी-इंगलिश आप संभाल लें, बाकी विषय में ठीक-ठाक हैं।"

अंधे को क्या चाहिए! मैंने इतनी उतावली में हामी भरी कि वह हँस पड़ी। मैंने कहा– कम से कम इन जवान हाथों को बूढ़े हाथों से लेने की इस ज़िल्लत से तो निजात मिलेगी। वह शायद भीतर तक भीग गई थी। मेरी हताशा को पीछे धकेलते हुए उसने मुझे मिल्टन की एक कविता सुनायी– दे आल्सो सर्व हू वेट एंड स्टैंड (वे भी करते हैं जो सिर्फ़ खड़े होकर प्रतीक्षा कर रहे होते हैं)। मैं प्रभावित हुआ; वह सिर्फ मोहक ही नहीं थी, बल्कि साँवला सौंदर्य और बुद्धि संवेदना के रेशमी धागों में गुँथी हुई भी थी।

उस साँवली शाम पहली बार मैंने ज़िंदगी को कोसना छोड़ ज़िंदगी के सामने सिर झुकाया। बताना मुश्किल है कि उन उजाड़ भटकते आवारा दिनों में मुझे किसने अधिक संभाला, मिल्टन ने कि रेशमा ने। उसे जानते-जानते मैं प्यार करने लगा था और प्यार करते-करते जानने लगा था। उसे सुनते-सुनते मैं अपने भीतर की आवाज़ सुनने लगा था। उसे देखते-देखते अपने आपको, अपने आस-पास को देखने लगा था। आते-आते हम इतना करीब आ गए थे कि एक-दूसरे के आसमान में उड़ने लगे थे। वह मेरे जीवन में इस कदर छा गई थी कि उसका होना तो होना था ही, उसका नहीं होना भी होना होता था। जब वह साथ नहीं होती तो उसकी हँसी की लहरों पर मैं देर तक तैरता रहता और सोचता रहता कि ऐसी निश्छल हँसी ही संसार को बचायेगी। उससे मिलने से पूर्व मैं बंगालियों से बहुत चिढ़ता था। 'चोलबे ना! चोलबे ना!' का उनका 'कानूनी दिमाग' मुझे विरक्ति से भर देता था; पर अब बंगाली मुझे दुनिया की सबसे उम्दा कौम लगती। मुझे हर बंगाली में सुभाष, टैगोर, बंकिम और नज़रूल झाँकते नज़र आते। उत्तर कोलकाता में एक दुकान है 'नेताजी', कहते हैं कि जब नेताजी को अपने प्रोफेसर जो बात-बात पर भारतीय जननायकों की हँसी उड़ाता था, को थप्पड़ मारने के अपराध में प्रेसिडेंसी कॉलेज से निकाल दिया गया था तो उन्होंने कोलकाता के मिशनरी कॉलेज, 'स्कोटिश चर्च कॉलेज' में दाखिला ले लिया था जो इसी नेताजी दुकान के पास पड़ता था। सुभाष बाबू अपने कॉलेज के दिनों में इसी दुकान पर खड़े होकर प्याजी, बैंगनी और आलू चॉप खाते थे। उस दुकानदार ने न केवल नेताजी के नाम पर अपनी दुकान का नाम 'नेताजी' रखा, वरन् हर 23 जनवरी को नेताजी के जन्मदिन के उपलक्ष्य में पूरे कोलकाता को मुफ़्त में बैंगनी, प्याजी और चॉप खिलाता था। बंगालियों के इसी नेताजी प्रेम से प्रभावित होकर मैंने भी 23 जनवरी को रेशमा के साथ लाइन लगाकर उस दुकान से प्याजी खायी और नेताजी को श्रद्धांजलि दी।

बोलते-बोलते विजय फिर भावुक हो गए थे। उनकी आँखों में यादों के ढेर सारे चिराग भक-से जल उठे थे। होंठों पर उँगली रखे वे जाने क्या सोचते रहे। खिड़की से टुकड़े-भर दिखते आसमान में जाने क्या देखते रहे। थोड़ी देर रुककर मेज़ पर रखे गिलास से दो घूँट गटके, आँख के चश्मे को ठीक किया और फिर कहने लगे– 'मित्रो, हर दिन मेरा प्यार अधिक चमकीला और विराट होता जाता था। उसे प्यार करते-करते मैं उसके विचारों, उसकी संस्कृति, यहाँ तक कि उसके रीति-रिवाजों और कवियों-लेखकों तक को प्यार करने लगा था। अब मैं टैगोर, जीवनादास, नज़रूल और समरेश बसु को पढ़ने लगा था। माँ रसोई में होती और पूछती क्या बनाऊँ तो मेरा मन कहता कह दूँ– राधाबल्लभी बना। माँ शाम को पूजा करती तो मन कहता कह दूँ– तुम बंगालियों की तरह शंख क्यों नहीं बजाती, कितना मंगलमय लगता है बजते हुए शंख को सुनना। घर से निकलते वक्त बहन 'बाई-बाई' कहती तो हठात् मेरे मुँह से निकल पड़ता, 'आस्छी' (आता हूँ)।

एक दिन बंगाली कविता मेरे हाथ लग गई। 'बांग्लार मुख देखे आच्छी आमि, ताई देखते चाई ना आर कारो मुख' (बांग्ला का मुख देख चुका हूँ, इस कारण नहीं चाहता किसी और का मुख देखना) मैंने इतनी तब्दीली की कि इसमें 'बांग्लार मुख' की जगह जोड़ दिया 'रेशमार मुख' (रेशमा का मुख), उसने सुना और वीर बहूटी बन गई।

मैंने चुटकी ली– लाडो, तू तो बीकानेर की केसरिया फीणी बन गई है।

उसके रसीले होंठों पर शरारत की चिड़िया फुदकी, अपने रस-भरे चितवन से रस की धारा उड़ेलते हुए उसने मुझे देखा और नहले पर दहला मारते हुए कहा– छेले मानुष, तूमि होच्छो कोलकातार (बच्चू, तुम हो कोलकाता के...) कि मैंने उसे बीच में ही लपक लिया और कहा– रोसगुल्ला। 'ना गो, झाल मूड़ी' (जी नहीं, मसाला मूड़ी)।

अपने कहे पर वह आप ही हँस पड़ीं। मैं भी हँस पड़ा। हम स्टॉपेज तक साथ-साथ चलने लगे। एकाएक हवाएँ महकने लगीं। उसके बाल उड़ने लगे। उसके दुपट्टे का सिरा मुझे छू-छूकर लौटने लगा। मैंने साँझ के झुटपुटे में उस खरगोश लड़की के नाजुक पंजों को अपनी गरम-गरम हथेलियों में दबा लिया और अपने होंठों से छुआ दिया था। मेरा रोम-रोम झनझना उठा था। उस अलबेली शाम सौंदर्य, यौवन और प्रेम, ये तीनों सत्य जैसे मिलकर मुझे मालामाल करने पर आमादा थे। मैंने महसूसा... मेरे अस्तित्व के अणु-अणु ने महसूसा, मेरे रोम-रोम ने कहा, यह झनझनाहट, यह आवेग, यह पुलक, यह स्पर्श... यही सत्य है... बाकी सब झूठ है, बाज़ार है।

चलते-चलते उसने पूछा– ऐ झाल मूड़ी! तोमार बयस कोतो रे (झालमूड़ी, तेरी उम्र कितनी?)!

मैंने कहा– ग्यारह महीने।

वह चौंकी– ए माँ, से कि? (हे राम! सो कैसे?)

मैंने जवाब दिया– इंसान जन्म चाहे कभी ले, जीना तो वह तभी शुरू करता है जब प्रेम करना शुरू करता है। वाह! खूब भालो– वह एकाएक चिड़िया बन गई और चहचहाने लगी। गलियों में झूलते रोशनी के गुच्छे एकाएक जगमगाने लगे।

दोस्तो, ऐसी कई अविस्मरणीय शामें मैंने उसके साथ बितायीं। ऐसी ही एक चमकदार शाम मैंने विदा होते उसके कान में फूँक मारी– 'तूमि रवे नीरवे हृदय मम, मम जीवने, मम यौवने, मम सकल भुवने तूमि भोरवी' (तुम मेरे हृदय में रहोगी, मेरे जीवन-यौवन... मेरे सारे अस्तित्व में तुम सुगंध बिखेरती रहोगी)

उसने मेरे बंगाली प्रेम और कविता की तारीफ में कुछ नहीं कहा। मैं जल-भुन गया। लेकिन ठीक अलग होते क्षणों में उसने मेरे कान में दूसरी फूँक मारी– माँझी न बजाओ वंशी कि मेरा मन डोलता...

मैं हरिया गया। स्प्रिंग की तरह उछल पड़ा– बैंगी, (बंगाली छोकरी) तुम हमारे केदारनाथ तक कैसे पहुँच गई?

उसने पलटी मारी– मेड़ो छेले (मारवाड़ी छोकरा) जैसे तू पहुँच गया हमारे रवि बाबू तक। देर तक हम दोनों हँसते रहे।

हँसते-हँसते देखते रहे।

देखते-देखते हँसते रहे।

मन एकाएक वृंदावन हो उठा।

ज़िंदगी कविता बन गई और कविता ज़िंदगी।

विजय फिर रुक गए। कमरे की खिड़की से किसी पेड़ की कुछ टहनियाँ दिख रही थीं जिस पर कबूतर-कबूतरी के कुछ जोड़े बैठे थे। विजय उन्हें हसरत से देख रहे थे, शायद अतीत हूक बन हॉन्ट कर रहा था उन्हें। हमने पूछा– फिर क्या हुआ?

उनकी आवाज़ थरथरायी। किसी वीतरागी की तरह उन्होंने हमें देखा और जवाब दिया– फिर क्या होता? जैसे हर सपने आसमान की उड़ान भरने के बाद ध्वस्त हो लौट आते हैं धरती पर, जैसे हर झरना शिखर पर जाकर अवरोही मोड़ ले लेता है, वैसा ही कुछ लेकिन नहीं हुआ मेरी कहानी के साथ।

तो फिर क्या हुआ– हमने एक साथ पूछा।

वे मुस्कुराए। उदासी का अक्स भी झलका उस मुस्कुराहट में। धीरे-धीरे जवाब आया– बहुत अद्भुत हुआ मेरी कहानी के साथ। दोस्तो, जब सब कुछ दिव्य-दिव्य-सा आगे बढ़ रहा था कि तभी एक गुलाबी शाम उसने छूटते ही मुझसे कहा– मुझे भगा ले चल।

मैं आसमान से गिरा... क्या कह रही हो? तुम्हें भगा ले चलूँ? उसने अपने उसी अंदाज में कहा– क्योंकि अब मामला प्राइवेट से पब्लिक हो गया है। हमारे प्रेम की खुशबू मेरे बाबा (पिता) तक पहुँच चुकी है। उन्हें हर तरह की खुशबू से एलर्जी है, फिर प्रेम की खुशबू तो दूर तक करंट मारती है। मैंने उसे झकझोरा– देख, मेरी जान पर आ बनी है और तू पहेलियाँ बुझा रही है। भालो करे बोल व्यापार टा कि? (ठीक से बता मामला क्या है?)

वह गमगीन हो गई– पूरा सत्य तो मुझे भी नहीं पता। मेरी माँ हमेशा से ही बीमार रहती है, कल बाबा ने बताया कि डॉक्टरों ने जवाब दे दिया है, मुश्किल से छह महीने की मियाद बची है। माँ चाहती है उनके हाथों मेरा कन्यादान हो, इसीलिए एक हीरो आ रहा है इसी रविवार को उसका उद्धार करने, यदि उसने हाँ कर दी तो इसी फाल्गुन में...

–ओह नो! भीतर के जंगल में न जाने कितने परिंदे जैसे एक साथ फड़फड़ाये।

वह एक क्षण जैसे मेरे समूचे जीवन की पराजय का क्षण बन गया था। यदि मैं कुछ न कर पाया तो... उफ़! प्रेम ने रूमाल हिलाते-हिलाते मेरी आंतरिक सत्ता को हिला दिया था।

मुझे असमंजस, परेशानी और अनिश्चितता की नोक पर टँगा देख उसने मेरे चेहरे को अपनी हथेली में भरकर कहा– सही बता, क्या चल रहा है तेरे भीतर। साथ देगा न मेरा... देख मेड़ो तू कहीं जैसलमेर की बालू का टीला मत बन जाना, जो बनते-बिगड़ते रहते हैं हवाओं के मूड पर, आज यहाँ कल वहाँ।...

मैंने उसे गले लगाते हुए कहा... "नहीं लाडो, मैं जैसलमेर का टीला नहीं विंध्याचल की पहाड़ी हूँ, जो अटल रहती है अपने इरादों में" उसने अपने तप्त होंठ मेरे माथे पर छुआ दिए और कानों में गुनगुनायी, 'पिय बिन सोना है म्हारो देश'। मैंने उसे ठीक किया, लाडो, 'सोना' नहीं 'सूना'। तूने जो कहा उसका मतलब तो है कि पिया के बिना सोना है मेरा देश। ऐसी उदास घड़ी में भी हम दोनों खिलखिला पड़े। मैं फिर चमत्कृत हुआ, वह तेजी से मेरे सपनों और मेरी संस्कृति की हिस्सेदार होने लगी थी। केदारनाथ से मीराबाई तक पहुँच गई थी, जबकि मैं रवींद्रनाथ में ही डूब-उतरा रहा था। नहीं, मुझे उसका साथ निभाना है, चाहे जैसे भी हो।

मैं घर चला आया और देखता रहा अपनी माँ और युवा बहन को, वृद्ध होते पिता को। अपने 110 वर्ग फीट के सीलन भरे, पलस्तर उखड़ी दीवारों वाले घर को। क्या इसमें समा सकती है मेरी रेशमा? क्या ऊँट की समाई हो सकती है चूहे के बिल में? क्या साझे शौचालय में डिब्बा लेकर जा सकेगी वह? उफ़! जो प्रेम अभी धरती की गर्द-धूल से दूर आसमान में उड़ान भर रहा है, उसे समय पूर्व धरती पर उतार दिया मैंने तो क्या बच पायेगा वह प्रेम? उफ़! मैं क्या करूँ?

खुले आसमान में काली चील-सी उड़ती वह रात, जो बीतकर भी आज तक नहीं बीती। ठीक ही कहा है इसे आग का दरिया। यह सत्य था कि यदि मैं उसे भगाकर ले भी आता तो भूखा मरने की नौबत नहीं आती, क्योंकि तब तक एक कामचलाऊ नौकरी मुझे मिल गई थी। पर मैं डर गया था ज़िंदगी से दूर अपने परिजनों के सामने ज़िंदगी को इतनी जल्दी अपने आगोश में लेने से। भोर के अर्द्ध जागते-सोते पलों में, चेतन-अवचेतन के संधि-स्थल पर कोई झुटपुटा-सा आलोक कौंधा और जैसे मुझे चेतावनी दे गया– यदि इस चाँद को मैंने धरती पर उतार दिया तो सब कुछ चौपट हो जायेगा।

अगली शाम पानी में डोलते जहाज की तरह अपने डाँवाँडोल चित्त के साथ जब मैं पहुँचा उसके पास तो वह जैसे भागने को तैयार ही बैठी थी, छूटते ही पूछा उसने– तो कब भाग चलूँ? मैं जम गया। एक मन किया कह दूँ, चल अभी, पर तुरंत ही कबूतर के दड़बे जैसा घर स्मृति में कौंध गया, जहाँ सुबह ही वृद्ध पिता ने उल्टी कर दी थी तो मुझे तब तक बाहर खड़ा होना पड़ा था जब तक माँ ने फिनेल से पोंछा मार दुर्गंध को पछाड़ नहीं दिया था। मेरे मुँह से निकल पड़ा– मुझे छह महीने का समय दे लाडो, तब तक एक छोटा-सा घर ढूँढ़ लूँगा... तेरे जैसे चाँद को इस अँधेरे में कैसे रखूँ? छह महीने? उसकी पनीली आँखों में निराशा गहरा गई। खामोशी से उसने झाँका मेरी आँखों में, शायद उसने मेरी घनघोर विवशता पढ़ ली थी। फिर वह मुझसे मिलने नहीं आयी और एक दिन आया उसकी शादी का निमंत्रण कार्ड। टूटे मन से मैं उसके घर गया तो उसके भाई ने अपना भाई धर्म निभाते हुए मेरा मार्ग रोकने की चेष्टा की। लेकिन मेरी आवाज़ सुन वह खुद सामने आ गई। अपने भीतर उठते प्रचंड झंझावात पर काबू पाने के लिए मैंने उसे अपने आगोश में लिया, यह सोचते हुए कि अब वह मुझे कभी भी नहीं मिल पायेगी। मैंने महसूसा... वह काँप रही थी। मैंने इस प्रकार भींचा उसे जैसे सदा के लिए अपने भीतर उतार लेना चाहता हूँ। मैंने बोलने की चेष्टा की तो मेरा गला भर आया, शब्द चुक गए। मैंने हँसना चाहा तो आँखों में आँसुओं की झिलमिल बन गई। मैंने उसके माथे पर हाथ फेरना चाहा कि तब तक उसकी माँ आ गई, आवेग में मैंने उसकी हथेलियों को अपने हाथों में दबा लिया... वे लम्हें हम दोनों पर भारी थे। हम दोनों थरथरा रहे थे। उसकी माँ खींचने लगी... दो बँधे हाथ छूटे और दो विपरीत दिशा की ओर अग्रसर हुए।

हम सभी भावाविष्ट हो सुन रहे थे उन्हें। गोधूलि साँझ के सन्नाटे में उनकी आवाज़ का कंपन छू रहा था हमें। कहीं-कहीं उनकी प्रेम कहानी हमारे भीतर जाने कब से दबी पड़ी किसी आदिम प्रेम कहानी को छूकर हमें भी उद्वेलित और विचलित किये जा रही थी।

जमी बर्फ़ से जमे हमारे निजी कोने भी अनायास पिघलने लगे थे... कि तभी उदंड मेघेन पीछे से चिल्लाया– तो इसमें अद्भुत बात क्या हुई?

उन्होंने फिर एक सिगरेट सुलगायी और धुएँ के छल्लों को देखते रहे दार्शनिक अंदाज़ में। फिर धीरे-धीरे कहना शुरू किया उन्होंने– मित्रो, असली कहानी तो अब शुरू होती है। मित्रो, मुझे कभी नहीं लगा कि मैं अपने सपनों के खंडहर में अपने आँसुओं और पीड़ाओं के साथ अकेला खड़ा हूँ। मुझे कभी नहीं लगा कि मैंने उसे खो दिया है। प्रेम और सौंदर्य का जो पौधा उसने मेरी आत्मा में रोपा था, वह दिन पर दिन सघन होता अपनी सुगंध फैला रहा था। मेरे कानों में हमेशा उसके बोल गूँजते रहते... पिय बिन सूनो है म्हारो देस। मुझे लगता, उसके प्रेम की खुशबू मेरे वजूद में इस कदर गुँथ गई है कि दुनिया के सारे डिटर्जेंट भी मिलकर उसे धो नहीं सकते। वह मोबाइल फ़ोन का ज़माना नहीं था। लैंड लाइन फ़ोन का ज़माना था। मैं कई बार दोपहर में उसके घर फ़ोन मिला देता, वह हैलो-हैलो करती रहती। मैं उसकी आवाज़ के मन को बीनता रहता पर कभी भूलकर भी जवाब नहीं देता। मैं स्वयं अपनी पीड़ा का ईश्वर था, इस कारण नहीं चाहता था कि उसके संसार में मेरे चलते कुछ भी खलबली मचे। नदी की उदास धारा की तरह दिन बीतते रहे। समय दौड़ता रहा लेकिन मैं वहीं का वहीं खड़ा रहा। हर रात वह मेरे सिरहाने आकर खड़ी हो जाती। उसके खयाल मेरे ख्वाब बन जाते। उन ख्वाबों के पंख झड़ते भी तो मैं उन्हें बटोरकर वहीं चिपका देता।

मैंने उन ख्वाबों के मोतियों की आब धुँधली न होने दी। माँ ने कई बार शादी के लिए कई लड़कियों की तस्वीरें दिखायीं। सूनी रातों की निस्तब्धता में मैं एक-एक कर उन लड़कियों की तस्वीरें देखता, मेरी यादें काँपने लगतीं, मेरी आँखों के आगे गड्ढा आ जाता, मैं उसे पार नहीं कर पाता। वह गड्ढा रेशमा के गालों का होता था।

मैं माँ को सारी तस्वीरें वापस लौटा देता। माँ रोने लगी तो मैं उसे समझाता– माँ

उसकी आवाज़ 'मुझे भगा ले चल' मेरे भीतर इस कदर कुंडली मारकर बैठ गई है कि अब कोई दूसरी आवाज़ मेरे भीतर घुस नहीं सकती। मेरे जीवन में जो कुछ भी सुंदर था, उसी के साथ था। 'कभी खुशी से खुशी की तरफ नहीं देखा/तुम्हारे बाद किसी की तरफ नहीं देखा/ये सोचकर कि तेरा इंतज़ार लाज़िम है/तमाम उम्र घड़ी की तरफ नहीं देखा', मैंने माँ को सुनायी अपनी पीड़ा। माँ ठंडी साँस लेती, आँखें पोंछती और शिव जी की तस्वीर देखते-देखते जाने कब सो जाती, पर मेरी नींद उचट जाती। मैं उसके खयालों से खेलता रहता। उसके ख्वाबों की पंखुरियाँ रात-भर मेरे बिछौनों पर झरती रहतीं। सुबह उठकर मैं उन्हें बुहार देता।

बहरहाल... अपने अकेलेपन की सीपी में कैद मैं जी रहा था कि एक धूप-भरी दोपहर जाने किस अप्रत्याशित संयोग से किसी स्वप्न और यथार्थ की तरह वह मुझे मिल गई। मैं मेट्रो सिनेमा हॉल के सामने वाले स्टॉपेज पर खड़ा था और वह बस से उतर रही थी। अरे...अरे... मैं ठिठक गया। मेरी नस-नस झनझना उठी। एकाएक सारा परिवेश धुला-धुला, निखरा-निखरा और रोमानी हो गया था। मेरे रोम-रोम में जैसे कोई अनजान रागिनी बज उठी।

सामने वह थी।

वन की हिरणी-सी वह भी चौंकी। तुम...आप... शब्दातीत था; पर आँखें अपना काम कर रही थीं। वह थोड़ी भरी-भरी लग रही थी। तांत की हल्के जामुनी रंग की मामूली साड़ी और बिना विशेष सजावट के भी वह दमक रही थी। उसके सुख से मैं सुखी हुआ। मेरे चारों ओर सब कुछ सुंदर और जादुई था। मोहाविष्ट-सा मैं उसके साथ-साथ चलने लगा। एक गीत मेरे भीतर गूँजने लगा...'चलो दिलदार चलें, चाँद के पार चलें', कि तभी मुलायम-मुलायम शब्दों में उसने मेरी माँ और बहन के बारे में पूछना शुरू कर दिया। मैं बेसब्री से इंतज़ार करने लगा कि वह माँ और बहन से निपटकर मुझ तक आये तो मैं उसे बताऊँ कि मेरा प्रेम जैसलमेर के बालू के धोरों-सा नहीं वरन् विंध्याचल पर्वत सा है, देख लो, आज भी मैं वहीं और स्मृतियों के उसी घाट पर खड़ा हूँ, अकेला।

फिर वह नौकरी के बारे में पूछने लगी। उसकी आवाज़ में वही प्रेम, वही जादू था और पलक झपकते ही फिर एक आनंद नगरी का निर्माण होने लगा था, जिसमें सिर्फ़ मैं था और वह थी। उसने कहा– चलिए कहीं बैठकर चाय पीते हैं। मैं निहाल हो गया। आज बहुत सारा जी लूँगा मैं। थोड़ी देर तक सपनों का एक रंगीन और खुशनुमा टुकड़ा हमारे साथ चलता रहा। भावनाओं का झीना-झीना-सा पुल हम दोनों के बीच बनने ही लगा था कि तभी सब कुछ कच्चे काँच-सा दरक उठा।

चलते-चलते उसने बच्चों की एक रेडीमेड कपड़ों की दुकान के बाहर पढ़ा– भारी डिस्काउंट, आज अंतिम दिन और जैसे उस रेशमा के भीतर से एक और रेशमा निकल आयी हो। वह तुरंत दुकान में घुस गई। मैं हतप्रभ-सा बाहर ही खड़ा रहा तो उसने तीन चौथाई आँखों से मेरी ओर देखते हुए हल्के अनुरोध भरे स्वर में कहा– दस मिनट ठहरिए और बिना एक क्षण गँवाये दुकानदार की तरफ मुड़ गई और एक कतार में लगे बाबासूटों को देखने लगी। जैसे कहानियों में कोई जादूगरनी एकाएक रूप बदल लेती है, मैं उसे पूरी तरह देख भी नहीं पाया था कि उसने चोला बदल लिया था। मैं तड़प उठा, जैसे कोई तेज धार का चाकू मेरी छाती में धँस गया हो। हैरानी और अविश्वास से भरी मेरी आँखें उसी ओर टँगी रहीं, उसके चेहरे की ओर, वह तल्लीन थी बाबासूटों में। हम दोनों की दुनिया अब अलग हो चुकी थी। वह पूरी तरह निरपेक्ष थी मेरी उपस्थिति से।

न अतीत की कोई चाँदनी छिटकी हुई थी उसके चेहरे पर और न ही वर्षों बाद हुए मिलन की कोई उत्तेजना, न लगाव और रोमांच ही था। शायद हर सत्य अपने विरोधी सत्य में ही दम तोड़ता है।

मेरे भीतर खालीपन भरने लगा था। एक दुकान के सामने चिथड़ों से लिपटा एक पैर कटा किशोर छाती के बल रेंगता भीख माँग रहा था। शायद बच्चों को चुरानेवाला कोई गिरोह उसे वहाँ छोड़ गया था। पुलिसवाला उसे खदेड़ रहा था। बाबूनुमा लोगों का आना-जाना जारी था। किसी को किसी से कुछ लेना-देना नहीं था। मैंने फिर देखा घड़ी की ओर, दस मिनट की मियाद पूरी हो गई थी। मैंने देखा रेशमा की ओर– वह दुकानदार से मोल-भाव कर रही थी।

मेरा मन फिर मुर्दा हो गया– क्या यह वही रेशमा है जो सारी दुनिया भूल मुझमें डूब जाया करती थी, जो आज इतने वर्षों बाद मिली भी तो क्या मिली।

गनीमत थी तो सिर्फ़ यही कि इस हादसे का इकलौता साक्षी मैं ही था।

धूप एकाएक असह्य हो गई थी और बाज़ार में एकाएक मक्खियाँ भिनभिनाने लगी थीं। मैंने अंतिम बार बाज़ार बनी उस प्रेमिका को देखा और अनकहे का भारी बोझ लिए पराजित-सा भाग खड़ा हुआ क्योंकि पहाड़ी नदी के पत्थरों की तरह मेरे शब्द घिस चुके थे। जो कुछ मैं उससे कहना चाहता था, वह सब अब बेमानी और बेसुरा हो चुका था।

उनकी डूबती हुई आवाज़ जैसे किसी कुएँ से आ रही थी। दोस्तो, मैंने उसे उस दिन नहीं खोया जब मैं उससे कुँवारे रूप में अंतिम बार मिला था, क्योंकि इतने वर्षों तक उसका न होना भी मेरे लिए सुंदर था। मैंने उसे आज खोया दुबारा मिलने के बाद।

उनके अंदर कुछ काँप रहा था– दोस्तो, पर मैं सचमुच आज भी उसे दोष नहीं दे पाता। आप चाहें तो इसे मेरा गधापन कह लीजिए पर मैं यही सोचता रहता हूँ कि उसके सरोवर का पानी इतना सूख कैसे गया? कैसे लहरों के साथ दौड़नेवाली, कविता, स्वप्न और सौंदर्य में ही विचरण करने वाली एक खरगोश लड़की सिर्फ़ दाल-रोटी की ही होकर रह गई।

उदासी उनके शब्दों के साथ रेंगने लगी थी– मुझे दुख है कि मैंने उसे खो दिया; पर उससे ज्यादा दुख इस बात का है कि उसने भी अपने आपको खो दिया।

बोलते-बोलते विजय एकाएक रुक गए। शायद हाँफने लगे थे वे। ज़िंदगी में हुई ऑक्सीजन की कमी का मारा व्यक्ति ऐसे ही हाँफने लगता है। एक गहरी साँस खींची उन्होंने और बैठ गए।

सूई फेंक सन्नाटे के बीच उनके शब्द अभी तक फड़फड़ा रहे थे।

संवाद

1. "मुझे दुख है कि मैंने उसे खो दिया, पर उससे भी ज़्यादा दुख इस बात का है कि उसने भी अपने आपको खो दिया।" बेरोज़गारी और मुफ़लिसी के परिप्रेक्ष्य में आप इस कथन पर क्या सोचते हैं?
2. 'वे अतीत से मुक्त होते ही वर्तमान को साध लेती हैं, इसलिए ज़िंदगी में हमसे कहीं ज़्यादा कामयाब होती हैं।' यह बात कहते-कहते विजय एक संजीदा चुप्पी में क्यों डूब गए थे? विचार कीजिए।

बुखार

संजय खाती

'बुखार' नयी पीढ़ी के कथाकार संजय खाती की कहानी है। यहाँ पहाड़ की एक युवती की मनोव्यथा उजागर हुई है जो अपने चाचा के यहाँ नैनीताल में रहकर पढ़ रही है। उसके पिता के निधन के बाद आ गई विपन्नता में अब यही उम्मीद है कि युवती किसी तरह अपने पैरों पर खड़ी हो ताकि छोटा भाई भी समर्थ बने। यही युवती जब अपनी माँ से मिलने गाँव आयी है और उसकी वापसी का दिन आ गया है तो वह न जाने के लिए सब उपाय कर रही है। वस्तुत: ऊपर से संबंधों में प्रतीत हो रही आत्मीयता के नेपथ्य में युवती का शोषण है।

माँ और मैं घंटों इंतज़ार करते रहे, लेकिन जब दीदी बस से उतरी तो हमने उसे पहचाना ही नहीं। वह इतनी बदली हुई और नयी-सी लग रही थी। उसने लाल बूटों वाली कमीज पहनी हुई थी। उसके बाल सामने से कटे हुए थे। हमने कभी सोचा भी नहीं था कि वह इतनी गोरी-चिट्टी है।

सहमे हुए हम आगे बढ़े, लेकिन दीदी ने बस से झाँक रहे लोगों का लिहाज भी नहीं किया और एकदम माँ से लिपट गई। माँ की ओट में सिमटे हुए मैंने देखा, उसने चमाचम पॉलिश वाले जूते पहने हुए थे, जैसे मैंने पहले कभी नहीं देखे। माँ को छोड़ वह मेरी ओर लपकी और बाँहों में भरते हुए मुझे लगभग उठा ही लिया। मुझे लगा, जैसे खुशबू के तूफान ने मुझे घेर लिया है। वह खरगोश की तरह नरम थी और कोमल। फिर मुझे अपने पर बड़े

ज़ोरों से शर्म आयी– अपने अनधुले और सर्दी से फटते गालों पर, अपने साही जैसे बालों पर, मैल-भरे नाखूनों, काली उँगलियों और चीकट कपड़ों पर। लेकिन दीदी ने अपने कपड़े गंदे होने की ज़रा भी परवाह नहीं की। उसे इन सब बातों का ध्यान ही नहीं था। जितना मैं शर्म से सिकुड़ता जाता, उतना उसका प्यार उमड़ता रहा।

माँ ने दीदी का बैग उठा लिया। अपने बदरंग हरे कोट और फटे बूटों में गायब होने की कामना करता मैं सबसे पीछे चला। दीदी को पगडंडी पर चलते दिक्कत हो रही थी। मुझे उस रास्ते पर भी शर्म आयी।

दीदी ने ठिठुरते हुए कहा, "बाप रे, कैसी ठंड है यहाँ!"

माँ ने कहा, "ठंड तो वहाँ भी कम नहीं होगी। कहते हैं, नैनीताल में भी बरफ पड़ती है।"

"कुछ न पूछो।" दीदी बोली, "पर पप्पू भैया रूम हीटर ले आया है। कमरे के अंदर तो ऐसी गरमी रहती है कि पसीना आ जाये। चाची पहले तो बड़ी नाराज हुईं, पर अब तो उसे भी मजा आने लगा है।" यह कहकर दीदी ज़ोर से हँसी। हमारी समझ में उसकी आधी बात नहीं आयी थी, फिर भी हम मुस्कुराये। तेज हवा में दीदी के कपड़े फरफराने लगे। पतझड़ के सूखे भूरे पहाड़ों के सामने वह कैसी लग रही थी– जुगनू की तरह चमकदार।

आज दीदी को हम पूरे एक साल से देख रहे थे। पिछले साल चाचा उसे अपने साथ

नैनीताल ले जा रहे थे तो उसने छींट की रंग उड़ी कमीज और साड़ी का दुपट्टा ओढ़ा हुआ था। सर्दी से उसकी नाक लगातार बह रही थी। उसे पोंछने के लिए माँ ने उसे साड़ी का एक और टुकड़ा दिया था। हवाई चप्पलों से उसकी फटी एड़ियाँ दिखायी दे रही थीं। हम बड़ी सुबह उसे बस तक छोड़ने गए थे और वह रुआँसी हो रही थी।

अपने बैग से उसने सफेद जूतों का जोड़ा निकाला। "ये तो लड़कियों की तरह शरमाता है। ले पहन।" उसने कहा, "पप्पू भैया के थे। अभी दो महीना पहले खरीदे होंगे। कहता है, फैशन बदल गया, नये वाले लूँगा। इनके फीते रात को चमकते हैं। सच्ची!"

माँ अपने लिए आये शॉल को सहलाकर देख रही थी। "हमारी चाची ठहरी नक्शेबाज। नहीं तो रफ़ू किया दिखता है कहीं?" दीदी बोली, "चाचा ने कश्मीर से मँगाया था पाँच सौ में।"

फिर उसने अपने जादुई थैले से मेरे लिए एक जर्सी, फुटबाल और माउथ ऑर्गन निकाला। "ये सब रॉकी ने दिए हैं। चाची तो कपड़ों का गट्ठर ही दे रही थी। कैसे लाती?"

"ले आती।" माँ ने कहा, "और क्या हाल हैं तेरी चाची के?"

"ठीक है।" दीदी हँसी, "अब सिर पीट रही होगी बेचारी! दिन-रात 'उमा उमा' करती फिरती थी। अब खुद पिलना पड़ रहा होगा। निक्की मैडम तो टी.वी. छोड़ेगी नहीं। इस समय चाची की शक्ल देख पाती तो मज़ा आ जाता।"

दीदी अब सिर्फ़ देसी में और वह भी काफ़ी तेजी से बोलने लगी थी। कभी तो उसका कहा हुआ हमारी समझ में आता ही नहीं। बीच-बीच में हाथ नचाते और मुँह बनाते हुए वह बोलती चली जाती। हम उसे देखते रह जाते और सुनना भूल जाते। वह हमेशा बोलने को बेताब रहती। हमेशा छलकती हुई लगती। नैनीताल के सैकड़ों लोगों के सैकड़ों किस्से उसने हमें दो दिन में सुना डाले।

नीची छत वाले हमारे नीम अँधेरे घर में दीदी जुगनू की तरह जगमगाती। माँ उससे ऐसा बर्ताव करती जैसे परिवार में वही सबसे बड़ी हो। उसको कभी बिना चटाई के बैठने नहीं देती। सोने के लिए सबसे अच्छा बिस्तर उसे दिया गया। दीदी और मुझमें दो ही साल का अंतर था। साल-भर पहले तक हम लोग बात-बात पर कुत्ते-बिल्लियों की तरह लड़ा करते थे, लेकिन अब मुझे वह अपने से बहुत-बहुत बड़ी लगती।

महीने-दो महीने में खूब गर्म पानी करके मैं नहाता था या कभी हाथ-पैरों में मैल की धारियाँ चमकने लगें तो माँ गर्म पानी में डुबोकर धीरे-धीरे मैल छुड़ाती थी। मैं ही नहीं, हमारे इलाके में सभी ऐसे ही थे। रोज़ नहाने की शहरी आदत सबसे पहले मैंने दीदी में ही

पायी। कैसी भी ठंड हो और माँ के टोकने पर भी उसने अपना नियम नहीं तोड़ा। वह कपड़े भी रोज़ बदल लेती थी। उसके पास कई जोड़ी रंग-बिरंगे कपड़े थे, जिन्हें वह सूखने को फैलाती तो इंद्रधनुष-सा बिछ जाता।

दीदी के पास कई किस्म की डिब्बियाँ-शीशियाँ भी थीं। वह नहाने के बाद करीने से बाल सुलझाती, कभी नाखून रँगती, क्रीम-पाउडर लगाती। उसके पास एक शीशी में खुशबूदार तेल भी था। हमारे दरार पड़े आईने में वह खुद को सजाती। मैं उसके आस-पास मँडराता तो वह मेरे भी नाखून रँग देती। उसकी क्रीम ने मेरे गाल भी दुरुस्त कर दिए। वह हरदम महकती और फूल की तरह खिली रहती। गाँव के दूसरे लोग भी काम छोड़कर उसे देखते रह जाते। वह मुझे उन लोगों की याद दिलाती जो कभी कारों पर हमारी तरफ से गुजरते थे और हमारे जानवर सामने पड़ जाने पर हमें गालियाँ देते थे।

दीदी हमें दिखाने के लिए कुछ फोटो भी लायी थी। एक उसके स्कूल का था। वह सफेद कपड़ों में अपनी सहेलियों के साथ खड़ी थी। एक फोटो उस झील का था, जिसे दीदी हमेशा लेक कहती थी। तीसरा फोटो घर का था, जिसमें हमारे चाचा का पूरा परिवार मौजूद था। उसी फोटो में मैंने पहली बार उन लोगों को देखा। पप्पू भैया, जो बी.कॉम. कर रहा था, अपनी टीम का कैप्टन था और महागुस्सैल था। रॉकी, जो हाई स्कूल में था और मारपीट में माहिर था। निक्की, जो दीदी की हमउम्र थी और हमेशा टी.वी. देखती रहती थी। चाचा-चाची को घेरे बैठे वे तीनों ऐसे मुस्कुरा रहे थे जैसे तस्वीर देखने वाले पर हँस रहे हों। उस तस्वीर में दीदी भी थी– किचन के दरवाज़े पर परदे के साथ खड़ी। उसने गर्दन ऐसे टेढ़ी कर रखी थी जैसे उसमें खम पड़ गया हो। उसने अटपटे ढंग से दोनों हाथ पीछे कर रखे थे। दीदी ने बताया कि उस वक्त उसके हाथ बेसन से सने हुए थे।

उस फोटो में दीदी को देखकर हम बहुत हँसे। माँ की आँखों में आँसू तक आ गए और वह सचमुच भावुक हो गई। बोली, "रे, अपनी चाची की सेवा किया कर। किस्मत वाली है तू।"

दीदी ने कहा, "एक साल की बात और है। इंटर हो जाता तो नर्सिंग का कोर्स करती।" फिर उसने बताया कि नर्स क्या होती है। माँ ने कहा कि उसने शहर के अस्पताल में ऐसी लड़कियाँ देखी हैं, जो एकदम उजले कपड़े पहनती हैं, लेकिन वह इस बात से थोड़ा चिंतित हुई कि कोर्स नैनीताल में नहीं हुआ तो? दीदी ने कहा, "होस्टल में रह लूँगी। कम-से-कम किसी का अहसान तो नहीं रहेगा।" फिर उसने मुझसे कहा, "मेरी नौकरी लग जाये तो तू मेरे साथ आ जाना। यहाँ तो आवारगर्दी के अलावा क्या है? रॉकी को देखा।

अभी से कहता है, पायलट बनूँगा और निक्की तो डॉक्टर बनने की तैयारी कर रही है।"

माँ ने खुश होकर कहा, "यह तो अच्छा रहेगा। फिर दोनों बहनें साथ काम करना।"

दीदी ने मुँह बनाकर कहा, "उसके साथ? और कोई जगह नहीं रह गई है मेरे लिए?"

उन दिनों दीदी खाने-पीने, सोने और सजने के अलावा कोई काम करती थी तो गप मारने का। कुछ ही दिनों में उसने हमें ढेरों बातें सिखा दीं। थाली में खाने का, पालथी मारकर बैठने का, मुँह पर हाथ रखकर खाँसने का, ब्रश से दाँत साफ़ करने का फैशन वही हमारे घर में लायी। टी.वी., सिनेमा, बोटिंग, बैडमिंटन, पिकनिक जैसी चीज़ें हम बिना देखे जानने लगे। लेकिन उस लगातार बक-बक के साथ दीदी बदल रही थी। जैसे किसी फुटबाल से हवा निकलती जाये और वह उछाल लेना बंद कर दे।

दीदी को एक दिन भुक्खड़ों की तरह खाते देखकर माँ ने टोका तो बोली, "बॉस के डर से भूख किसे लगती थी?" वह चाची को बॉस कहकर उसका मज़ाक उड़ाती। वह दस-बारह घंटे सोने लगी थी। कहती, "हर दिन दो-दो घंटे। साल में छह सौ घंटे की नींद बचायी है मैंने।" इस सबका नतीजा यह हुआ कि वह कुछ मोटी लगने लगी। आलसी और अस्त-व्यस्त भी। नींद के मारे धीरे-धीरे नहाना भी भूलने लगी। वह दिन-भर बाल फैलाये घूमती। उसके नाखूनों से नेल पॉलिश भी उखड़ी रहती। वह कहती, "इस भूतनी को चाची देख ले तो अगली बार से छुट्टी ही न दे।"

एक दिन उसने मुझसे कहा, "तू तो सारा दिन आवारा डोलता रहता है। अब भी मारता होगा मच्छी?"

साल-भर पहले मैं और दीदी नाले में घंटों मछली मारा करते थे। खाने के लिए नहीं, सिर्फ़ खेल में। नाले की नन्ही मछलियाँ खाने लायक होतीं भी नहीं। हम उन्हें रेत के छोटे-छोटे गड्ढों में कैद करते और सताने के बाद छोड़ देते। यह हाथ की सफ़ाई और दिमाग की तेजी का खेल था।

आज हम फिर नाले पर गए। दीदी धूप में चट्टान पर बैठ गई और मैंने मछलियों की घेराबंदी शुरू की। दीदी ने अपना किस्सा शुरू किया, "मालूम है, एक बार हमारी बोट डूबते-डूबते बची।" फिर वह बताने लगी कि कैसे उसकी बोट को किसी और की बोट ने टक्कर मार दी। मछलियों की राह रोकने के लिए धारा पर पत्थर खड़े करते मैंने पूछा, "तुम तो रोज़ बोटिंग करती होगी?"

"कहाँ रे? कभी मौका मिल गया तो।"

"पिक्चर तो रोज़ देखती होगी?"

"पागल, रोज़ कौन देखता है? स्कूल से गोल मारकर जाना होता है। एक बार चाची को पता लग गया तो दो दिन तक खाना नहीं मिला। निक्की मेम साहब तो हर हफ़्ते जायेगी। मुझसे कहती है, हमारी नाक कटेगी।"

"बाप रे! बड़ी जल्लाद चाची है।"

मछलियों को रोकने के बाद मैंने पानी में पड़े पत्थरों को पलटा। इतने आहिस्ता कि उन्हें पता ही नहीं चले। वे पानी तल पर लेटी हुई थीं— धूप में चमकती हुई, बेखबर।

दीदी गीत गाने लगी– "हम बने, तुम बने, एक-दूजे के लिए।" उसे दर्जनों गीत याद थे। उसने एक कॉपी में भी लिख रखे थे। वह हरदम कुछ गाती रहती थी। फिर बोली, "अगली बार तेरे लिए रेडियो ला दूँगी। पप्पू के पास है एक छोटा-सा। खुशामद करूँगी तो दे देगा। वैसे है बड़ा गुस्सैल।"

मैंने मछलियों को अंजुरी में घेरने की कोशिश की। पानी थोड़ा-सा हिला और उतने में ही वे पूँछ हिलाती भाग निकलीं। "धत् तेरे की!" मैंने कहा, "दीदी, मजे तो तुम्हारे ही हैं।" और कहने के साथ ही मैं घबरा गया। मेरे अंदर भरी ईर्ष्या पहली बार छलककर नंगी हो गई थी।

दीदी ने चौंककर मुझे देखा। फिर धीमे से हँसी, "हाँ– तुम तो यही कहोगे। माँ भी यही सोचती है। कहती है– उमा, तेरी तो किस्मत है। मेरा मन तो होता है, सब कुछ छोड़कर कहीं भाग जाऊँ।"

असावधानी में रेत उछल गई। पानी गँदला हो गया। उसके थिर होने का इंतज़ार करते मैंने कहा, "दीदी, भाग जाओगी तो नर्स कैसे बनोगी?"

"नहीं बनूँगी और क्या?"

"यहाँ क्या करोगी? भैंस चराओगी? घास काटोगी?"

"क्यों, मैं घास नहीं काट सकती?"

मुझे यकीन नहीं हुआ। दीदी फिर वैसी हो जाने पर आमादा थी जैसी वह नैनीताल जाने से पहले थी। तिनके चबाती, नाक बहाती। जो हर वक्त मुझसे लड़ने को आमादा रहती थी। मेरी चुगली करती, गालियाँ देती। जिसके न रहने की कामना मैं दिन में दसियों बार किया करता था। मैंने कहा,"इतने तो ठाठ हैं तुम्हारे। फिर भी ऐसा कह रही हो?"

दीदी ने मेरी आवाज़ में छलकती नफरत को महसूस किया होगा। उसने हैरानी से मुझे देखा। बोली, "बता तो, क्या ठाठ हो रहे हैं मेरे वहाँ?"

"क्यों, क्या तुम बोटिंग नहीं करती? पिक्चर नहीं देखती? इतने अच्छे-अच्छे कपड़े पहनती हो।"

"...और बात-बात पर गालियाँ खाती हूँ, मार खाती हूँ, सुबै छै बजे उठती हूँ, कपड़े धोती हूँ, झाड़ू लगाती हूँ, खाना पकाती हूँ, मुफ़्त की नौकरानी की तरह मरती रहती हूँ– ऐसे ठाठ करने के लिए जा, तू ही क्यों नहीं चला जाता?"

"मैं चला जाऊँगा।" मैंने अकड़कर कहा, लेकिन मेरा दिल बैठने लगा था। दीदी को ऐसे मैंने कभी नहीं देखा था।। "मैं चला जाऊँगा।" मैंने जिद में दोहराया। दीदी को हँसी आ गई। बोली, "पागल कहीं का!"

मैंने खुश होने के लिए छटपटाते हुए कहा, "दीदी, एक बार मुझे भी ले चलना अपने साथ।"

दीदी ने रूखे होते हुए कहा, "नहीं रे, उन्हें अच्छा नहीं लगेगा।"

उस दिन के बाद दीदी और भी सुस्त होती गई। जाड़ों की धूप में बैठे-बैठे उसका गोरापन उड़ गया। अस्त-व्यस्त रूखे बालों और मैले कपड़ों में वह कुछ-कुछ अपने पुराने रूप में लौटने लगी। कई दिनों से उसने पाउडर-क्रीम भी नहीं छुए थे। मैंने उसे याद दिलाया तो उसे लगा, मैं खुद क्रीम लगाने के लिए मरा जा रहा हूँ। उसकी एड़ियों में दरारें पड़ने लगी थीं।

एक दिन रात को खाना खाते समय माँ को अचानक कुछ याद आया। बोली, "आज दस हो गए। सोमवार को तो तूने जाना होगा।"

दीदी चुप रही। माँ ने कहा, "अपनी चाची के लिए बड़ी बना लेती।"

दीदी ने रुखाई से कहा, "मुझे नहीं बनानी बड़ी-फड़ी।"

माँ कुछ हैरान हुई। नाराज होकर बोली, "देख रही हूँ, तू तो बिलकुल आलसी हो गई है। फिर जल्दी मचायेगी।"

दीदी ने उसी तरह कहा, "मुझे नहीं जाना।"

माँ ने उस वक्त कुछ नहीं कहा। वह दूसरे कामों में लग गई। रात जब माँ खाट पर और हम ज़मीन पर बिस्तर बिछाकर लेट गए और ढिबरी बुझ गई तो माँ ने बोलना शुरू किया—

"आज तेरे बापू होते तो तुझे कहीं भेजते? सब भगवान की मरजी ठहरी! तेरे चाचा को तो मैंने गोदी में खिलाया ठहरा। इसी से तो इतना गुण मानता है। खुद आकर ले गया, तू लिख-पढ़ लेगी करके। आज के जमाने में कौन किसका गुण मानता है? तेरी चाची भी बड़े घर की हुई। तू नाराज होती है कुछ डाँट दिया करके। तो बेटी, जैसी मैं, वैसी तेरी चाची। बड़ों की बात का बुरा मानते हैं कहीं? उनका उपकार हुआ हम पर। उनकी सेवा करनी हुई तुझे। अपना ही घर हुआ। अपने ही भाई-बहन हुए। अब तू सयानी हो गई। तेरे चाचा से कहूँगी, कहीं कन्यादान भी कर देना। उनका बड़ा सहारा हुआ हमको।"

मैंने महसूस किया, बगल में लेटी दीदी आवाज़ दबाकर रो रही है। माँ ऐसे ही बड़बड़ाती रही जैसे नींद में। कभी उसकी आवाज़ खो जाती, कभी वह अचानक बोलने लग पड़ती। फिर उसके खर्राटे गूँजने लगे।

अगले दिन धूप खिल आयी। माँ छत के पत्थरों पर बड़ियाँ डाल आयीं। मैंने आकर दीदी को बताया, "तीस बड़ियाँ हैं।" दीदी चुपचाप अपने कपड़े सहेजती रही।

मैंने कहा, "दीदी, जाने का मन नहीं है तो मत जाओ।"

दीदी ने आँख उठाकर देखा।

मैंने कहा, "माँ तो भेजेगी ही। हाँ, तुम बीमार पड़ जाओ तो..."

दीदी ने कहा, "बीमार कोई अपनी मर्जी से पड़ता है?"

मैंने कहा, "लच्छू कहता था, प्याज दबाने से बुखार हो जाता है।"

दीदी पूरे दिन प्याज के दो टुकड़े जतन से बगल में दबाए रही। उसकी चाल अटपटी हो गई, लेकिन उसने माँ को पता नहीं चलने दिया। शाम तक वह प्याज की तीखी गंध से सराबोर हो गई। तबीयत में कोई बदलाव नहीं दिखा। उकताकर उसने प्याज के टुकड़े फेंक दिए। बोली, "कोई और तरीका सोच।"

हम पूरे दिन सोचते रहे। बीमारी ठीक करने की दवाएँ मिलती थीं। लेकिन, ऐसी कोई गोली, कोई जड़ी हमें पता नहीं थी जो बीमार बना दे। ऐसी बात किसी से पूछने का तो सवाल ही नहीं था। मैंने कहा, "तुमको कोई चोट-वोट ही लग जाती।"

हमने इस प्रस्ताव पर भी गंभीरता से सोचा। दराँती से अँगूठा कट जाये, उँगली दब जाये या मोच आ जाये। अपने साथ इससे ज़्यादा कुछ किया नहीं जा सकता था। दीदी ने कहा कि इससे बात नहीं बनेगी। वह लगभग निराश हो चली थी। बोली, "ज़हर मिल जाए तो खा लूँ।"

यह ऐसी इच्छा थी जो आसानी से पूरी हो सकती थी। चूहे मारने का ज़हर घर में था, जिसे हम आटे की गोलियों में मिलाकर रख देते थे। हम बुरी तरह डर रहे थे, लेकिन दीदी ने जो होगा देखा जाएगा कहकर दो गोलियाँ निगल लीं। हमने सुना था, ज़हर पेट काटता है और खून निकलता है। दीदी का डर धीरे-धीरे बढ़ता गया। वह मरणासन्न-सी बिस्तर पर पड़ी रही। उसका रंग बिलकुल पीला पड़ गया। लेकिन इससे ज़्यादा कुछ हुआ नहीं।

तीसों बड़ियाँ सूख गईं। माँ ने उड़द की दाल और मड़ुए का आटा भी पोटलियों में बाँध दिया। दीदी ने अरसे बाद नहाया। कपड़े धोकर सुखा लिये। हम सब चुप-चुप थे। कल ही दीदी जाने वाली थी।

आज की रात फैसले की रात थी। मैं माँ के खर्राटों का इंतज़ार करता रहा। फिर दीदी को छुआ। वह जगी थी। "दीदी, अब क्या होगा?" मैंने कहा।

"कुछ नहीं।" दीदी ने कहा। वह उदास थी। "कुछ नहीं होगा। मैं छुट्टी होते ही आऊँगी।"

"हाँ", मैंने कहा, "तुम जल्दी नर्स बन जाना। मैं तुम्हारे साथ आ जाऊँगा।"

दीदी चुप रही। उसकी साँसों से लग रहा था, वह बेचैन है। फिर अचानक बोली, "ठंडे पानी से तो बुखार आ ही जायेगा।"

मैं उछल पड़ा। चुपचाप दरवाज़ा खिसकाकर हम बाहर आये।

बाहर हल्का कोहरा पड़ा हुआ था। चमकदार कपास में चाँदनी के तार गुँथे हुए थे।

सब कुछ धुँधला, कोमल और सपने की तरह था। हम पानी के बर्तनों के पास गए। दीदी ने छूकर देखा तो उसकी हिम्मत जवाब देने लगी। फिर भी उसने लोटा भर पानी सिर पर उड़ेल लिया। ज़्यादातर पानी किनारे छलक गया, फिर भी उसके बाल भीगकर चमकने लगे। मैंने भी वही किया। पानी पड़ते ही लगा, ठंडी हवा कपाल से आर-पार होने लगी है। सी-सी करते हम वहीं सीढ़ियों पर बैठ गए।

सफेद धुंध के उस मायालोक में हम घुटनों में सिर दिये बैठे रहे। बोलने की ज़रा भी ताकत नहीं बची थी। पता नहीं कितनी देर हम उस नीम बेहोशी में खोये रहे। पहले तो हवा शरीर में बर्फ़ की कनियों की तरह चुभती रही। फिर शायद महसूस करने की ताकत जाती रही। लकड़ी के कुंदों की तरह हम जमते रहे। बेहोशी जैसी नींद में डूबते-उतराते मैंने देखा, कोई बहुत बूढ़ा आदमी उस कोहरे को बेधकर हमारी ओर झाँक रहा है। मैं उसे पहचान गया। वह बुखार था। वह हमारी ओर देखता रहा। उसे किस बात का इंतज़ार था?

अचानक वह गायब हो गया और झटके से मेरी नींद खुली। दीदी और मैं आपस में लिपटे सो गए थे। एक बार तो मैं घबरा गया। लगा, आँखों के अलावा शरीर है ही नहीं।

फिर हाथ-पैरों में हरकत हुई। दीदी भी जाग रही थी। उसका बदन भी ठंडा था। बुखार की कोई गर्मी वहाँ नहीं थी। वह आँखें झपका रही थी, जैसे दुनिया को पहचानने की कोशिश कर रही हो। उसकी निगाहें एक-एक चीज़ से होते हुए पूरब के आसमान पर जा टिकीं, जहाँ सुबह का उजाला फूट रहा था।

संवाद

1. कहानी में माँ और बच्चों के आपसी संवाद के दौरान ऐसे कितने ही क्षण आये, जब पारिवारिक रिश्तों के बीच की गहराई और एक-दूसरे पर किये जाने वाले अटूट विश्वास की ऐसी झलक मिली जिनकी बुनियाद पर ही आपसी रिश्ते सींचे जाते हैं। आप ऐसे कथनों को ढूँढ़िए और विचार कीजिए।
2. लेखक की दीदी धीरे-धीरे अपनी पुरानी शिथिल-सी दिखने वाली दिनचर्या को क्यों अपनाने लगी थी? कारणों पर आपसी चर्चा कीजिए।

चलते-चलते

प्रियदर्शन

कहानी 'चलते-चलते' विश्वविद्यालय में पढ़ने वाले एक युवक और युवती राहुल और रेशमा के पारस्परिक आकर्षण को प्रस्तुत करती है। राहुल और रेशमा एक-दूसरे को पसंद तो करते हैं पर वे यह बात एक दूसरे से कह नहीं पाते। दोनों के मन में इस अनुभव को लेकर कई सवाल उठते हैं जिनका उत्तर वे ढूँढ़ नहीं पाते। रास्ते में चलते हुए दोनों के संवादों से कहानी का निर्माण हुआ है। इसी संवाद से दोनों के आकर्षण और लगाव को समझा जा सकता है। प्रत्येक आकर्षण प्रेम नहीं होता किंतु यह सहज मानवीय आकर्षण है जो संबंधों की गरिमा और उदात्तता का निर्माण करता है।

"मैं एक दिन नाटक करना चाहती हूँ", रेशमा की चमकती हुई आँखों में सपने जैसा कुछ तैरा।

"शेक्सपीयर ने मैकबेथ तुम्हारे लिए तो लिखा था, कर लो उसमें काम!" राहुल के ताने का उसने बुरा नहीं माना।

"छि:, लेडी मैकबेथ मुझे बिलकुल पसंद नहीं। मैं वो रोल थोड़े ही करूँगी।"

"अरे, मैं लेडी मैकबेथ के लिए थोड़े ही बोल रहा हूँ, तुम तो ओपनिंग सीन में रहना, फेयर इज फाउल, फाउल इज फेयर वाले में। तीन चुड़ैलों में एक बन जाना।" इस बार ज़ोरदार सामूहिक खिलखिलाहटों में रेशमा तुनक-सी गई, "चुप रहो, तुमसे बात करना ही बेकार है।"

लेकिन दोस्तों की हँसी जो थी, वह थम नहीं रही थी।

रेशमा इस दोस्ताना चुहल को जज़्ब करती हुई-सी सबकी हँसी में अपनी झेंपी हुई हँसी मिलाने की कोशिश करने लगी।

कुछ देर बाद दोनों अकेले रह गए। रेशमा और राहुल। राहुल अब चुप था। यह पहेली रेशमा को कभी समझ में नहीं आयी। समूह में वह हँसी-मज़ाक से बाज़ नहीं आता। और अकेले होता है तो बेहद गंभीर। ग्रुप में अकसर उसकी खिंचाई करता वह राहुल कोई और है क्या? उसने सिर झटककर पीछे बाल फेंके। इस आदत का भी राहुल सबके बीच खूब मज़ाक उड़ाता है। लेकिन अभी उसने ध्यान तक नहीं दिया था। अब वह बिलकुल चुप था।

"राहुल", रेशमा ने फिर टोका, "मैं सीरियसली बोल रही हूँ।"

"क्या?" सीरियसली तो वह पूछ रहा था।

"मुझे नाटक करना है।"

"कौन-सा नाटक?"

"तुम करो न। क्रिस्टाबेल को नाटक में बदलो।"

"डियर लेडी क्रिस्टाबेल, जेसू-मरियम शील्ड हर वेल।"

"चुप रहो, हर वक्त मेरा मज़ाक क्यों उड़ाते रहते हो? अब बोल दो कि मैं इसमें बस जेरल्डाइन का रोल करने लायक हूँ। बोल दो।"

राहुल ने कुछ नहीं कहा। बस उसे देखा। उस तरह नहीं, जैसे अकसर खिलखिलाहट-भरी दृष्टि से देखता है। बड़ी कोमलता के साथ। यह स्निग्ध दृष्टि राहुल को जैसे फरिश्ता बना डालती है। फिर उसकी कोमलता में मुस्कुराहट मिल गई। "नहीं, तुम क्रिस्टाबेल ही हो, बेहद कोमल, बेहद नाज़ुक...।"

रेशमा की साँस थमने-सी लगी। यह कौन राहुल है अचानक बदल जाता हुआ। लेकिन साँस रुक जाये, इससे पहले फिर वह हँस पड़ा, "और उतनी ही मूर्ख।"

लेकिन रेशमा उतनी मूर्ख नहीं थी। उसने बुरा नहीं माना। हँसी जो छुपाने की कोशिश कर रही थी, वह बात तो उसकी पकड़ में आ गई न। उसने विजयी मुद्रा में राहुल को देखा और उसे चिढ़ाने के लिए सिर झटककर बाल फिर पीछे फेंके। राहुल मुस्कुरा भर रहा था। अपना वार खाली जाने का एहसास उसे था। लेकिन अब रेशमा की बारी थी। "चलो न राहुल, साजन देख आयें, बड़ी अच्छी फिल्म है— संजय दत्त, माधुरी दीक्षित और सलमान खान की।"

वार ठीक जगह पड़ा था। ऐसी चालू फिल्में देखने के प्रस्ताव राहुल को कोफ़्त से भर देते थे। "साजन देखोगी और बनोगी क्रिस्टाबेल। तुम्हारे साथ कोई गड़बड़ी है ज़रूर।"

“है गड़बड़ी तो रहने दो न। अरे, गड़बड़ लड़की नहीं होती तो तुम्हारे साथ इस तरह घूमती शहर में!” अब वह इठला रही थी, “जानते हो राहुल, हमारे हॉस्टल में टी.वी. नहीं है न। इसलिए जब कहीं चित्रहार चल रहा होता है तो हम गाने के बोल सुन-सुनकर कल्पना करते हैं कि अभी कौन-सा सीन चल रहा होगा।”

“सारा कचरा तुम्हारे हॉस्टल में ही पड़ा हुआ है।”

“अच्छा, एक बार बुला लूँ हॉस्टल तो घूर-घूरकर देखते रहोगे। एक-एक को।”

इस बार एक हल्की-सी धौल पड़ी पीठ पर। चिहुँककर रेशमा ने राहुल के इस साहस को देखा और फिर पलटकर अगल-बगल देखा कि किसी ने देखा तो नहीं। उसने गहरी साँस ली। शुक्र है कि सड़क खाली है। कोई शोहदा भी नहीं। वरना सीटी ज़रूर बजाता। बल्कि हॉस्टल के आस-पास का होता तो आते-जाते कई दिन तक उसको परेशान करता रहता। क्या सोचते होंगे ये लड़के उसके बारे में। समझते होंगे, ऐसी-वैसी लड़की है। उसने हल्की-सी झुँझलाहट के साथ राहुल को देखा, “सड़क है, इतना ख्याल-भर नहीं रख सकते।”

धौल लगाकर राहुल भी कुछ सकुचा गया था। यह तो उसकी आदत नहीं थी। कैसे उसने यह हिम्मत कर ली? रेशमा जैसी साधारण लड़की में ऐसा क्या है जो उसकी तरह के बौद्धिक लड़के को भी आकृष्ट करता है? क्या उसकी वह सहजता, जिससे वह एक ही साँस में वर्जीनिया वुल्फ भी पढ़ लेती है और साजन जैसी चालू फिल्में भी देख लेती है? या फिल्मी गाने भी याद रखती है और हिंदी की कविताएँ भी? वह एक बेहद सामान्य-सी लड़की है, बहुत छोटे-छोटे सपनों वाली— इन सपनों को सिर के पीछे दो चोटियों की तरह लटकाती-लहराती घूमनेवाली। उसकी महत्वाकांक्षाओं का आकाश बेहद स्पष्ट है और छोटा-सा भी— कहीं लेक्चरर बन जाये, किसी स्मार्ट दिखने और अच्छा कमाने वाले लड़के से उसकी शादी हो जाये, छुट्टियों में पहाड़ घूम ले और इन सबसे छुट्टी मिले तो थोड़ा-बहुत साहित्य पढ़ ले। बस इतना-सा।

लेकिन क्या छोटे सपने अच्छे नहीं लगने चाहिए? उसे मालूम था, यह प्रतिप्रश्न उसने नहीं, उसके भीतर भी पल रहे एक छोटे से सपने ने उठाया है। उसे उत्तर नहीं चाहिए, अपने लिए कवच चाहिए।

लेकिन जो लम्हे थे, न उनमें सवालों की गुंजाइश थी, न जवाबों की ज़रूरत। जवाब पाने की इच्छा भी नहीं थी। ज़िंदगी इतने सकून, इतनी लय के साथ कभी नहीं खिली थी जितना इन दिनों खिल रही थी— नरम धूप की तरह। दोनों इस धूप में चल रहे थे— राहुल

और रेशमा। कुछ इस तरह कि पता नहीं कब से चल रहे हों साथ-साथ। अपने-अपने हाथ में किताब सँभाले और बाकी ज़माने को नज़रअंदाज़ करते हुए सड़क पर निगाहें टिकाए इस तरह बढ़ते रहने में न पाँव थकते थे, न मन भरता था। बस कि जैसे एक-दूसरे का हाथ थामना बाकी था।

हाथ थामना लेकिन आसान नहीं था। एक बार क्लास में रेशमा ने ही थामा था हाथ, लेकिन जितनी तेजी से थामा था, उससे कहीं ज्यादा तेजी से छोड़ दिया। राहुल सनसना-सा गया, स्पर्श से नहीं, स्पर्श में तो कोमलता और ठंडक थी, लेकिन इस खयाल से कि रेशमा ने कितने अधिकार से उसका हाथ पकड़ लिया। यह स्पर्श त्वचा पर नहीं था, कहीं मन पर था।

लेकिन वह क्षणिक था— क्षणिक से भी छोटा। जैसे अनुभव भाप की तरह उड़ गया हो और घटना बची रह गई हो। लेकिन घटना का अपना ताप था जो जाते-जाते जाता। हुआ बस इतना था कि रेशमा ने अपनी कॉपी में एक गलत स्पेलिंग लिखी थी और राहुल उसे नंदिता को दिखाने पर तुला था। इसी हँसी-मज़ाक के बीच कॉपी लेने के लिए रेशमा ने उसका हाथ पकड़ लिया था।

जैसे पकड़ा था, वैसे ही छोड़ भी दिया था। लेकिन राहुल ने भी कॉपी छोड़ दी थी। और गलत स्पेलिंग तो पता नहीं, कहाँ पीछे छूट गई थी। हँसी अचानक बहुत कोमल और लजाई हुई चुप्पी में बदल गई थी। और ये अहसास इस चुप्पी को और मादक बना रहा था कि इन दोनों को सिहरते किसी तीसरे ने— यानी नंदिता ने देखा ही नहीं, महसूस भी कर लिया था। वह बस मुस्कुरा रही थी। प्रेम में एक हमराज़ ज़रूर चाहिए, ये उसी वक्त दोनों जान गए थे और ना-ना करती नंदिता को अपने साथ चाय पिलाने ले गए थे। लेकिन प्रेम तब भी एक दूर का शब्द था— स्वर्ग के किसी बाग में लगा वह वर्जित फल, जिसे छूने का मतलब कई अभिशापों को बुलावा दे डालना था। प्रेम खुशबू की तरह पसर तो सकता था, जिसे महसूस किया जा सके, फूल की तरह खिल नहीं सकता था। खिलता तो सब देखते।

दूर से अचानक सुनाई पड़े ठहाकों ने दोनों का ध्यान भंग कर दिया। दो अजनबी चेहरे पीछे से चले आ रहे थे। राहुल और रेशमा दोनों सतर्क हो गए। चाल तेज भी कर ली, फिर धीरे। क्योंकि पीछेवालों की चाल ज्यादा तेज़ थी। साफ़ था कि ठहाके दोनों का ध्यान खींचने के लिए लगाए गए हैं। एक तनाव राहुल के ललाट पर दिख रहा था और एक घबराहट रेशमा के गालों पर। दोनों उनके बगल से गुज़र गए। लेकिन जैसे कोई किसी पेंटिंग पर कीचड़ उछालता हुआ गुज़र जाए। दोनों ने लंबी साँस ली। एक-दूसरे को

देखा। यह पहली बार नहीं हुआ था। रोज़ ही होता है। किसी-किसी दिन दो-चार बार भी हो जाता है।

"तुम्हें कराटे आता है?" माहौल हल्का होने पर रेशमा ने पूछा।

"कराटे?" हँसने लगा राहुल, "अचानक कराटे की कहाँ से सूझ गई?"

"क्यों? कराटे आता तो तुम पीटते इनको।"

"क्यों पीटता? क्या किया था इन्होंने?"

"हँस रहे थे।"

"तो हँसना मना है क्या?"

"लेकिन हम पर हँस रहे थे।"

"ये कैसे कह सकती हो। मेरा या तुम्हारा नाम लिया था क्या? या मेरी-तुम्हारी तरफ इशारा किया था?"

"कुछ नहीं किया था बाबा।" रेशमा झुँझला गई। "लेकिन हम पर हँस रहे थे, यह तो पता ही है।"

राहुल चुप था। रेशमा सही थी। वे उन्हीं पर हँस रहे थे। लेकिन वह क्या करे?

"मैं किसी कराटेवाले से शादी करूँगी।"

राहुल फिर हँसने लगा, "बोलो तो किसी पहलवान से भी बात चलाऊँ। वैसे तुम भी किसी पहलवान से कम नहीं।"

लेकिन रेशमा का ध्यान इस उपहास पर नहीं था। ठहाकों से उसके भीतर जो दरका था, वह अब तक नहीं भरा था। राहुल तो एकाध बार झेलता था। वह तो उसके साथ रहे, तब भी झेलती है और अकेली रहे तब भी। अकेले में झेलना पड़ता था, तब तो राहुल के साथ हुई थी। जब पहली बार यूनिवर्सिटी से उसके साथ निकली तो थोड़ी घबराहट, थोड़ा उल्लास और ढेर सारी तसल्ली साथ थी। यह किसी लड़के के साथ घूमने का उसका पहला अनुभव था। इसके पहले भाई के साथ ज़रूर निकलती थी, लेकिन भाई साथ कम होता था, सतर्क ज्यादा होता था। भाई के साथ निकलते यह तसल्ली ज़रूर रहती थी कि अब कोई कुछ बोलेगा या करेगा नहीं। लेकिन राहुल के साथ निकलने में उल्लास भी था, अपने स्वतंत्र होने का एहसास भी। चाईबासा नाम के छोटे-से कस्बे में कोई लड़की किसी लड़के के साथ ऐसे घूम सकती है क्या? माँएँ चोटी पकड़कर भीतर कर लें। राँची में भी कम लड़कियों को यह आज़ादी और इसका इस्तेमाल करने का साहस था। शायद इन कम लड़कियों में एक

होने की खुशी भी थी। और तसल्ली तो थी ही कि कोई कुछ कहेगा नहीं।

पहले दिन किसी ने कुछ कहा भी नहीं। दोनों ब्रिटिश लाइब्रेरी तक गए थे और लौटते हुए एक जगह रुककर उन्होंने कॉफी पी थी। अलबत्ता राहुल को देखकर उसे अपना भाई याद आ रहा था। क्यों, यह उसकी समझ में नहीं आया, क्योंकि वह अपने इस परिचित को भाई बनाकर मित्र खोना नहीं चाहती थी। काफ़ी देर बाद वह समझ पायी कि उसके साथ निकलते हुए भाई के चेहरे पर जो सतर्कता चली आती है, उसकी परछाई बहुत छुपाने के बाद भी राहुल के चेहरे पर है। इस परछाई को दूर करने के लिए उसने पर्स खोला था और एक कॉफीबाइट उसकी ओर बढ़ाई थी। "अरे, तुम टॉफी खाती हो?"

रेशमा ने जवाब नहीं दिया। सिर्फ़ झटककर बाल पीछे फेंके। "मुझे लड़कियों का इस तरह सिर झटकना अच्छा नहीं लगता।" यह राहुल के एक नए रूप से उसका परिचय था। जिस भाई की स्मृति को वह फिलहाल धकेलना चाह रही थी, वह जैसे बार-बार उपस्थित हो जा रहा था। उसका भाई भी यह बोलता है, "सिर क्यों झटकती हो? शरीफ़ लड़कियों की तरह सीधे क्यों नहीं चलती?"

भाई से वह झगड़ती भी थी। पूछती थी कि उसने शर्ट के ऊपरवाले बटन क्यों खोल रखे हैं? हीरो की तरह क्यों चलता है? शरीफ़ लड़कों की तरह क्यों नहीं चलता? तब उसका भाई हँसता और याद दिलाता कि वह हमेशा नहीं, उसके साथ चलते हुए बटन खुले रखता है, "ताकि लोग दादा समझें और कोई तुम्हें कुछ न बोले।" वह हँसने लगती, "शर्ट के बटन खोलकर कोई बहादुर नहीं बन जाता।"

गनीमत है कि राहुल की शर्ट का कोई बटन खुला हुआ नहीं था। लेकिन चलते हुए उसकी कोहनी जिस तरह अकड़ गई थी, उससे वह जान गई थी कि राहुल को भी उसी तनाव ने जकड़ा हुआ है जो उसके भाई को घेर लेता था। लेकिन राहुल उसका भाई नहीं था। इसलिए उसने मुस्कुराते हुए कॉफीबाइट ले ली और धीरे से बोला, "इस उम्र में भी चॉकलेट खाती हो?"

"मैं रोज़ दस चॉकलेट खरीदती हूँ?" उसने चॉकलेट फूले मुँह से सगर्व बताया और राहुल हँस पड़ा। अबकी चुहल की बारी थी, "और किस-किस को देती हो?"

यह पहला चुहल था। रेशमा के गाल लाल हो गए। गुस्से से नहीं, शर्म से। ये लड़के ऐसे-ऐसे मज़ाक कैसे कर लेते हैं। लेकिन उसे अच्छा भी लगा था। राहुल भी जान गया था कि रेशमा लजा गई थी। इस लाज की सुंदरता ने उसे अभिभूत कर दिया। पता नहीं क्यों।

यह शुरुआत थी। राहुल की बौद्धिकता का शीशा यहीं से दरकना शुरू हुआ।

धीरे-धीरे। इस दरके हुए शीशे में एक मूरत ढल रही थी। धीरे-धीरे। उसी वक्त वह जान गया था कि रेशमा उसे अच्छी लगने लगेगी। क्या वह भी रेशमा को अच्छा लगता होगा? यह सवाल उसने बाद में अपने-आप से पूछा था। कोई जवाब नहीं मिला। यह सवाल उसके भीतर बड़ा होता गया और जवाब पाने की इच्छा भी बड़ी होती गई। रेशमा उसे अपना मित्र मानती थी, उस पर भरोसा करती थी, उसके साथ घूमना-फिरना, बातें करना पसंद करती थी। लेकिन चाहना तो इन सबसे ऊपर होता है, न। ये बात रेशमा ने कभी उससे कही थी।

लेकिन यह कैसा चाहना होता है जो बाकी चीज़ों से अलग और ऊपर होता है? जो रेशमा जैसी सामान्य लड़की को भी इस हद तक समझ में आता है, वह उसे क्यों नहीं

आता? यह सवाल राहुल के भीतर अकसर उभरता और डूब जाता— पीछे छोड़ जाता थोड़ी-सी उदासी, जो किसी को न दिखे, इस कोशिश में राहुल और ज़ोर-ज़ोर से हँसता— लेकिन उदासी न छुपती, न कम होती।

लेकिन उदासी सिर्फ़ इस ओर नहीं थी, उस ओर भी थी। रेशमा भी समझ नहीं पा रही थी कि जिस लड़के ने उसे इस हद तक बदला, एक चुप्पा, घबराई हुई कस्बाई लड़की को खुद को समझने और खुद पर भरोसा करने की ताकत दी, जो हर समय छाया की तरह साथ रहने को तैयार है, वह उसे पसंद क्यों नहीं कर पाता? यह कौन-सा डर है या कैसी घबराहट है जो उसे राहुल से दूर किए रहती है? राहुल से ही पूछ ले क्या?

लेकिन जो सवाल सबसे ज्यादा परेशान करते हैं, वे पूछे जाने में सबसे ज्यादा वक्त लेते हैं। इस हद तक कि ज़िंदगी ही सवाल बन जाती है। यह न रेशमा को पता था, न राहुल को।

ऐसे ही घूमते हुए दिनों में दोनों को एक बारिश ने सड़क पर घेर लिया। बादल बहुत देर से निगाहें गड़ाए बैठे थे, बल्कि एक तरह से दोनों को चेतावनी भी दे रहे थे, हल्की-हल्की बूँदों की शक्ल में प्यार से अपने-अपने रास्ते वापस लौटने की सलाह भी, लेकिन अपनी-अपनी उदासियाँ ओढ़े एक-दूसरे के साथ घूम रहे राहुल और रेशमा को यह बात तब समझ में आई जब अचानक बौछारें पड़ने लगीं। राहुल किसी दुकान पर रुक जाना चाहता था, रेशमा इसके लिए तैयार नहीं थी। उसने पर्स खोला और जादू की तरह एक छाता तान लिया।

"तुम तो बच जाओगी, मेरा क्या होगा?"

"तुम्हें भी भीगने नहीं दूँगी," इठलाई हुई-सी रेशमा ने छाता कुछ और लहरा दिया। अब दोनों साथ-साथ भीग रहे थे— आधा-आधा।

"मज़ा आ रहा है न?" रेशमा ने पूछा।

"तमाशा नहीं बन रहा है?" राहुल ने सवाल नहीं किया, जवाब दिया।

"बनने दो, मैं तो चाहती हूँ कि छाता बंद कर दूँ और हम दोनों खूब भीगें।"

"सचमुच?" बादल इस बार राहुल की आँखों में थे, निमिष-भर को बिजली भी।

रेशमा की आँखों में जैसे एक इंद्रधनुष बनते-बनते रह गया— "हिम्मत नहीं पड़ती न?"

तो क्या इसी तरह भीगते रहेंगे, ज़िंदगी भर आधा-आधा?

दोनों में से किसी ने नहीं पूछा। लेकिन सवाल दोनों के भीतर उठा।

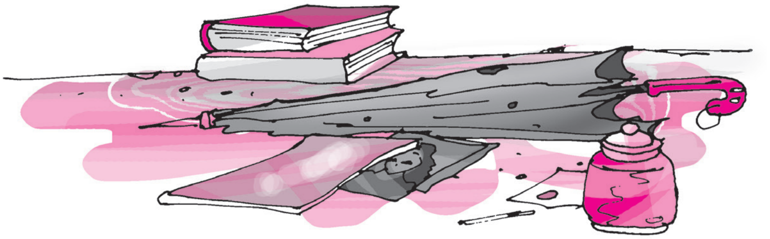

तब से कई साल बीत गए— बादल आसमान में बने हुए हैं, सड़कें अलग-अलग हो चुकी हैं, ज़िंदगी के रास्तों पर यह अधूरी, अनकही प्रेम कहानी लिए कौन कहाँ निकल पड़ा है, यह न रेशमा को मालूम, न राहुल को पता है। बादल, बिजलियाँ, इंद्रधनुष— सब इंतज़ार कर रहे हैं कि कभी कोई मोड़ आएगा, जब दोनों शायद फिर मिलेंगे और साथ-साथ भीगेंगे— आधा नहीं पूरा— पता सबको है कि इंतज़ार कभी खत्म नहीं होगा।

संवाद

1. शेक्सपियर के नाटक मैकबेथ से अपने किसी पसंदीदा पात्र के चरित्र पर चर्चा कीजिए।
2. आप ने कभी नाटक में भाग लिया है, यदि लिया है तो उस नाटक के किसी एक दृश्य के दृश्यांकन पर विचार कीजिए।

लेखकों के बारे में

प्रेमचंद

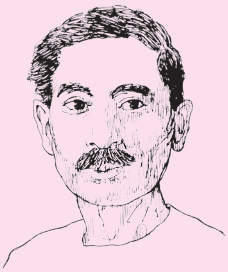

जन्म : 1880

हिंदी साहित्य के इतिहास में कहानी और उपन्यास की विधा के विकास का काल-विभाजन प्रेमचंद को ही केंद्र में रखकर किया जाता रहा है (प्रेमचंद-पूर्व युग, प्रेमचंद युग, प्रेमचंदोत्तर युग)। यह प्रेमचंद के निर्विवाद महत्व का एक स्पष्ट प्रमाण है। वस्तुत: प्रेमचंद ही पहले रचनाकार हैं जिन्होंने कहानी और उपन्यास की विधा को कल्पना और रूमानियत के धुँधलके से निकालकर यथार्थ की ठोस ज़मीन पर प्रतिष्ठित किया। उनके यहाँ हिंदुस्तानी भाषा अपने पूरे ठाट-बाट और जातीय स्वरूप के साथ आयी है।

प्रमुख रचनाएँ : सेवासदन, प्रेमाश्रम, रंगभूमि, निर्मला, कायाकल्प, गबन, कर्मभूमि, गोदान (उपन्यास); सोजे वतन, मानसरोवर (आठ खंड), गुप्त धन (कहानी संग्रह)।

निधन : 1936

जैनेंद्र कुमार

जन्म : 1905

हिंदी में प्रेमचंद के बाद सबसे महत्वपूर्ण कथाकार के रूप में प्रतिष्ठित जैनेंद्र कुमार का अवदान बहुत व्यापक और वैविध्यपूर्ण है। अपने उपन्यासों और कहानियों के माध्यम से उन्होंने हिंदी में एक सशक्त मनोवैज्ञानिक कथा-धारा का प्रवर्तन किया।

प्रमुख रचनाएँ : परख, अनाम स्वामी, सुनीता, त्यागपत्र, कल्याणी, जयवर्द्धन, मुक्तिबोध (उपन्यास); वातायन, एक रात, दो चिड़िया, फाँसी, नीलम देश की राजकन्या, पाज़ेब (कहानी-संग्रह)।

पुरस्कार/सम्मान : साहित्य अकादमी पुरस्कार, भारत-भारती सम्मान तथा भारत सरकार द्वारा पद्मभूषण से सम्मानित।

निधन : 1990

अमृतलाल नागर

जन्म : 1916

हिंदी साहित्य में नागर जी की पहचान एक श्रेष्ठ कथाकार के रूप में तो है ही, साथ ही नाटक, रिपोर्ताज, निबंध, संस्मरण, अनुवाद, बाल साहित्य आदि के क्षेत्र में भी उनका महत्वपूर्ण योगदान है।

प्रमुख रचनाएँ : महाकाल, सेठ बाँकेलाल, बूँद और समुद्र, सुहाग के नूपुर, अमृत और विष, मानस का हंस (उपन्यास); वाटिका, अवशेष, नवाबी मसनद, एक दिल हज़ार दास्ताँ (कहानी संग्रह एवं रेखाचित्र); गदर के फूल, ये कोठेवालियाँ (रिपोर्ताज एवं संस्मरण)।

पुरस्कार/सम्मान : साहित्य अकादमी पुरस्कार एवं सोवियत लैंड नेहरू पुरस्कार।

निधन : 1990

फणीश्वरनाथ 'रेणु'

जन्म :1921

फणीश्वरनाथ 'रेणु' ने 1942 के भारत छोड़ो आंदोलन में भाग लिया। 1953 में वे साहित्य-सृजन के क्षेत्र में आए। 'रेणु' ने हिंदी अंचल-विशेष को अपनी रचनाओं का आधार बनाकर, आंचलिक शब्दावली और मुहावरों का सहारा लेते हुए, वहाँ के जीवन और वातावरण का चित्रण किया है।

प्रमुख रचनाएँ : ठुमरी, अगिनखोर, आदिम रात्रि की महक (कहानी संग्रह); मैला आँचल, परती परिकथा, पलटूबाबू रोड, जुलूस (उपन्यास); ऋणजल धनजल, नेपाली क्रांति कथा (रिपोर्ताज)।

निधन : 1977

मोहन राकेश

जन्म : 1925

मोहन राकेश सिंधी परिवार से थे। उनके पिता पेशे से वकील थे। उन्होंने पंजाब विश्वविद्यालय से हिंदी और अंग्रेज़ी में एम.ए. किया। कुछ वर्षों तक वह 'सारिका' के संपादक भी रहे। मोहन राकेश ने नाटक, उपन्यास, कहानी, यात्रा वृत्तांत, निबंध आदि विधाओं में अपने रचनाकर्म से साहित्य के क्षेत्र में महत्वपूर्ण योगदान दिया।

प्रमुख रचनाएँ : अंधेरे बंद कमरे, अंतराल (उपन्यास); आषाढ़ का एक दिन, लहरों के राजहंस, आधे-अधूरे (नाटक); आखिरी चट्टान तक (यात्रा वृत्तांत); परिवेश (निबंध), बकलम खुद (डायरी)।

पुरस्कार/सम्मान : संगीत नाटक अकादमी पुरस्कार।

निधन : 1972

कृष्णा सोबती

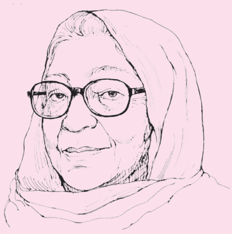

जन्म : 1925

कृष्णा सोबती ने अपने कई उपन्यासों, लंबी कहानियों और संस्मरणों के माध्यम से हिंदी के साहित्यिक संसार में अपनी दीर्घजीवी उपस्थिति सुनिश्चित की है। उनके लेखन और साफ़-सुथरी रचनात्मकता ने अपना एक नित नया पाठक वर्ग बनाया है। भारत विभाजन पर जिन लेखकों ने हिंदी में कालजयी रचनाएँ लिखीं, उनमें कृष्णा सोबती का नाम पहली पंक्ति में रखा जायेगा।

प्रमुख रचनाएँ : ज़िंदगीनामा, दिलोदानिश, ऐ लड़की, समय सरगम, चन्ना (उपन्यास); डार से बिछुड़ी, मित्रो मरजानी, बादलों के घेरे, सूरजमुखी अँधेरे के (कहानी संग्रह); हम-हशमत, शब्दों के आलोक में (शब्दचित्र, संस्मरण)।

पुरस्कार/सम्मान : साहित्य अकादमी पुरस्कार, हिंदी अकादमी का शलाका सम्मान, साहित्य अकादमी की महत्तर सदस्यता सहित अनेक राष्ट्रीय पुरस्कार।

निधन : 2019

शिव प्रसाद सिंह

जन्म : 1928

शिवप्रसाद सिंह एक जमींदार परिवार से थे। उन्होंने बनारस हिंदू विश्वविद्यालय से एम.ए. और पीएच.डी. की उपाधि प्राप्त की। उनके साहित्यिक विकास में उनके परिवार का विशेष योगदान रहा। अपनी दादी के अत्यंत करीब होने के कारण उन्हीं की स्मृति में उन्होंने अपनी पहली कहानी 'दादी माँ' लिखी। शिवप्रसाद सिंह अपनी कहानियों में जिस तरह आंचलिकता का प्रयोग करते थे, वह अपने अंचल के जीवन और प्रकृति के गहरे स्रोतों की उपज है।

प्रमुख रचनाएँ : नीला चांद, कोहरे में युद्ध, दिल्ली दूर है, शैलूष (उपन्यास); कर्मनाशा की हार, धतूरे का फूल, नन्हों, एक यात्रा सतह के नीचे, दादी माँ, राग गूजरी, मुर्दा सराय (कहानी संग्रह)।

पुरस्कार/सम्मान : व्यास सम्मान, साहित्य अकादमी पुरस्कार।

निधन : 2008

मन्नू भंडारी

जन्म : 1931

स्वातंत्र्योत्तर हिंदी लेखिकाओं में मन्नू भंडारी एक सुपरिचित नाम हैं। उनकी कहानियाँ हों या उपन्यास, उनमें भाषा और शिल्प की सादगी तथा प्रामाणिक अनुभूति मिलती है। उनकी रचनाओं में स्त्री-मन से जुड़ी अनुभूतियों की अभिव्यक्ति भी देखी जा सकती है।

प्रमुख रचनाएँ : एक प्लेट सैलाब, मैं हार गई, यही सच है, अकेली, त्रिशंकु (कहानी संग्रह); आपका बंटी, महाभोज (उपन्यास); बिना दीवारों का घर (नाटक); एक कहानी यह भी (आत्मकथा)।

पुरस्कार/सम्मान : हिंदी अकादमी, दिल्ली का शिखर सम्मान, व्यास सम्मान, भारतीय भाषा परिषद्, कोलकाता, राजस्थान संगीत नाटक अकादमी और उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान द्वारा पुरस्कृत।

निधन : 2021

कमलेश्वर

जन्म : 1932

कमलेश्वर 'नई कहानी' आंदोलन के एक प्रमुख स्तंभ रहे। उनकी रचनाओं में तेजी से बदलते समाज का बहुत ही मार्मिक और संवेदनशील चित्रण है। आज की महानगरीय सभ्यता में मनुष्य के अकेले हो जाने की व्यथा को उन्होंने बखूबी समझा और व्यक्त किया है। कमलेश्वर ने साहित्य की विभिन्न विधाओं जैसे कहानी, उपन्यास, यात्रा वृत्तांत, संस्मरण, पटकथा, आत्मकथा के रूप में अपना लेखन किया है।

कमलेश्वर ने कई पत्र-पत्रिकाओं का संपादन भी किया था। वे दूरदर्शन के अतिरिक्त महानिदेशक के पद पर भी रहे।

प्रमुख रचनाएँ: राजा निरबंसियाँ, खोई हुई दिशाएँ, सोलह छतों वाला घर, जिंदा मुर्दे (कहानी संग्रह); वही बात, आगामी अतीत, डाक बंगला, काली आँधी और कितने पाकिस्तान (उपन्यास)।

पुरस्कार/सम्मान : साहित्य अकादमी पुरस्कार, पद्मभूषण पुरस्कार।

निधन : 2007

मधु कांकरिया

जन्म : 1957

मधु कांकरिया ने कोलकाता विश्वविद्यालय से अर्थशास्त्र में स्नातकोत्तर की उपाधि प्राप्त की। उनकी रचनाओं में विचार और संवेदना की नवीनता मिलती है। समाज में व्याप्त अनेक ज्वलंत समस्याएँ जैसे अप-संस्कृति, महानगर की घुटन और असुरक्षा के बीच युवाओं में बढ़ती नशे की आदत, रेड लाइट इलाकों की पीड़ा आदि उनकी रचनाओं के विषय रहे हैं। वैचारिक दृढ़ता और पात्रों का सबल व्यक्तित्व उनके लेखन का विशिष्ट पक्ष है। उन्होंने उपन्यास और कहानियों के साथ यात्रा वृत्तांत भी लिखे हैं।

प्रमुख रचनाएँ: पत्ताखोर (उपन्यास); सेज पर संस्कृत, सलाम आखिरी, खुले गगन के लाल सितारे, बीतते हुए और अंत में ईशु (कहानी संग्रह)।

संजय खाती

जन्म : 1962

पेशे से पत्रकार संजय खाती नवभारत टाइम्स के कार्यकारी संपादक के रूप में कार्यरत हैं। उनकी प्रारंभिक शिक्षा उत्तराखंड में हुई। इसके बाद उन्होंने इलाहाबाद विश्वविद्यालय से स्नातक और दिल्ली विश्वविद्यालय से स्नातकोत्तर की उपाधि प्राप्त की। पहाड़ के सामान्य जीवन के देखे-अनदेखे दृश्य खाती के कथा साहित्य की विशेष पहचान हैं।

प्रमुख रचनाएँ : पिंटी का साबुन, बाहर कुछ नहीं था (कहानी संग्रह)।

पुरस्कार/सम्मान : आर्य स्मृति सम्मान।

प्रियदर्शन

जन्म : 1968

प्रियदर्शन ने राँची विश्वविद्यालय से पत्रकारिता में स्नातक और अंग्रेज़ी में स्नातकोत्तर की उपाधि प्राप्त की। अपनी विविध प्रकार की साहित्यिक कृतियों द्वारा उन्होंने आधुनिक हिंदी साहित्य को अत्यंत समृद्ध किया है।

प्रमुख रचनाएँ : ज़िंदगी लाइव (उपन्यास); बारिश, धुआँ और दोस्त, उसके हिस्से का जादू, हत्यारा और अन्य कहानियाँ (कहानी संग्रह); यह जो काया की माया है, नष्ट कुछ भी नहीं होता (कविता संग्रह)।

पुरस्कार/सम्मान : स्पंदन सम्मान (2008), टीवी पत्रकारिता के लिए हिंदी अकादमी, दिल्ली सम्मान (2015)।

‘पढ़ें और बढ़ें’ शृंखला की कुछ अन्य पुस्तकें

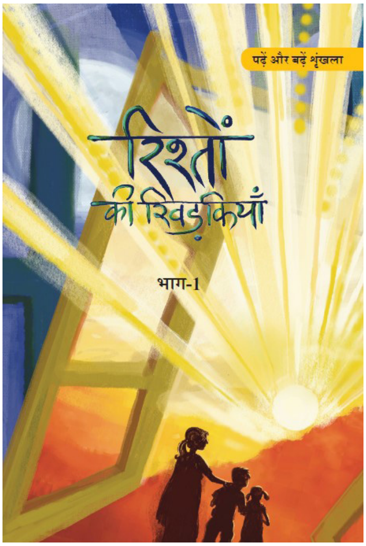

रिश्तों की खिड़कियाँ, भाग- 1

मूल्य – ₹ 110.00

कोड – 21190

ISBN – 978-93-5292-890-3

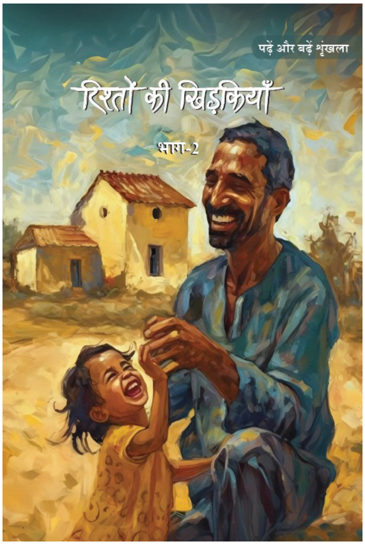

रिश्तों की खिड़कियाँ, भाग- 2

मूल्य – ₹ 110.00

कोड – 21191

ISBN – 978-93-5292-866-8

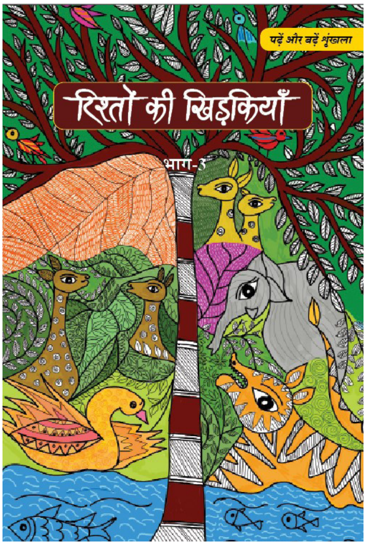

रिश्तों की खिड़कियाँ, भाग- 3

मूल्य – ₹ 145.00

कोड – 21192

ISBN – 978-93-5292-813-2

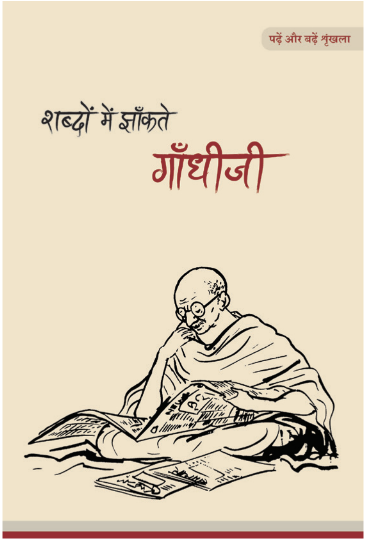

शब्दों में झाँकते गाँधीजी

मूल्य – ₹ 110.00

कोड – 21194

ISBN – 978-93-5292-821-7

अधिक जानकारी के लिए कृपया www.ncert.nic.in देखिए अथवा कॉपीराइट पृष्ठ पर दिए गए पतों पर व्यापार प्रबंधक से संपर्क करें।

21193

विद्यया ऽमृतमश्नुते

एन सी ई आर टी
NCERT

राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्
NATIONAL COUNCIL OF EDUCATIONAL RESEARCH AND TRAINING

ISBN 978-93-5292-641-1